Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

38077

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय

गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या .... आगत संख्या 38077

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा 50 पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

on—(1) Milit...y Services. Special Duty, (Text-book), Lucknow. 75

CH... 19...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

13

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेख-सूची

			पृष्ठ
१.	भाषा की शिक्षा और उसकी पाठ्य पुस्तकें।	श्री भगवतीशरण सिंह, अनुसचिव, शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश।	१
२.	रचनात्मक कार्य-एक संस्मरण।	श्री देवीदीन त्रिवेदी, विशेष पदाधिकारी, माध्यमिक शिक्षा।	८
३.	उत्तर प्रदेश में कला शिक्षण की प्रगति।	श्री सुरेशचन्द्र गर्ग, एम० ए०, एल० टी०, कला अध्यापक, राजकीय बेसिक ट्रेनिंग कालेज, लखनऊ।	१३
४.	शिक्षा में व्यक्तिगत सम्पर्क की आवश्यकता।	श्री लालजी राम शुक्ल, काशी विश्वविद्यालय, काशी।	१६
	महाभाष्यकार पंतञ्जलि के दृष्टिकोण का विश्लेषण।	श्री रामशंकर भट्टाचार्य टीकमणि संस्कृत महाविद्यालय, दशाश्वमेध, काशी।	२०
	सफल परीक्षा।	श्री बी० एस० माथुर, गवर्नमेंट ट्रेनिंग कालेज, जालंधर।	२८
	माध्यमिक शिक्षा की प्रगति।	श्री मोतीलाल भार्गव, उप-सचिव, माध्यमिक शिक्षा परिषद, प्रयाग।	३२
	मिट्टी के बर्तनों का आदि उद्योग।	श्री ... नात्मक प्रशि...	५१
	...षा की शिक्षा में श्रुत-लेख का ...	श्री ... ध्यापक, टीचर... लय, काशी।	५४
	... पाठ्य-क्रम में हिन्दी का स्थान।	श्री गणेश प्रसाद सिंह, हिन्दी लेक्चरर, गवर्नमेंट ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद।	५६
	...lfilment of Vows as part of ...ducation.	Prof. Indra Vidyavachaspati, M. P., दिल्ली।	69
	...ogy in service selection—(i) Milit...y Services.	Dr. A. R. Pachauri, Officer on Special Duty, (Text-book), Lucknow.	75

9.5,34
38077

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

13. The missing component in Education. — Sri Austin A. D' Souza, M. B. T., Dip. Ed., (Lond.), A (Lond), St. Joseph's Colle Nainital.

14. Towards Better Discipline. — Sri Dev Indar Lal, Directo Education, Bhopal.

15. Revolution by Education, Mexico and her cultural Mission. — Mrs. Urmila Johri, M. (Columbia). No. 11 B Lane, New Delhi.

16. The Standardisation of the verbal Group Test of Intelligence for 14 plus. — The Director, Govt. Bureau c Psychology, U. P., Allahabad.

17. The teaching of Locational Geography in Junior High Schools. — The Principal, Govt. Centra Pedagogical Institute, Allahal

18. An Experimental Investigation into the achievement in local history of the Delhi Higher Secondary School Students.—Section III — Sri Somnath Saraf, Resea Officer (Education), Plann Commission, Rashtrapa Bhawan, New Delhi.

19. Two Aspects of Moral Education of the child. — Sri Nirod Mukerjee Reader, i Education, Gauhati Universit

20. An Experimental validation of the Rorschach Test. — Srimati S. N. Mehrotra M. Ed and Sri S. N. Mehrotra M. A B. Ed. (EDIN)., Bureau Psychology, Allahabad.

21. Hearing Loss and mental deficiency. — Sri S. R. Goswami B.A., T. School for the Deaf, Aishbag Lucknow.

२२. हमारे कार्यकलाप तथा कार्य-क्रम ... ...

२३. शिक्षा जगत के समाचार ... ...

२४. सम्पादकीय ... ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुख्य मंत्री पं० गोविन्द वल्लभ पंत पूर्व माध्यमिक विद्यालयों तथा प्रारम्भिक पाठशालाओं में चलायी जाने वाली नवीन कृषि-योजना से सम्बन्धित जिला-परिषद-अध्यक्षों, जिला विद्यालय-निरांक्षकों तथा अन्य शिक्षा, कृषि एवं विकास विभाग के अधिकारियों के बीच भाषण कर रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ष ६ **शिक्षा** अप्रैल १९५४

उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग का त्रैमासिक मुख-पत्र

भाषा की शिक्षा और उसकी पाठ्य-पुस्तकें

भगवती शरण सिंह

हिन्दी में लिखने वालों की क्या कही जाय कि उनके पढ़ने वाले ही नहीं पैदा हो रहे हैं या पढ़ने वालों को दोष दिया जाय कि इतना साहित्य होते हुए भी उन्हें पढ़ने का शौक नहीं। किन्तु बात कुछ ऐसी है कि पढ़ने वालों को शौक हो या न हो लिखने वालों में शौक की कमी नहीं। लिखने वालों को दोष देना अभीष्ट न होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि पठनीय साहित्य की बहुत कमी है। किन्तु उससे भी अधिक कमी पढ़ने वालों की है। दोनों के बीच में जो प्रश्न है वह यह कि क्या पढ़ा जाय और क्यों पढ़ा जाय ? इसी का पिछलगा एक यह भी सवाल है कि कैसे पढ़ा जाय ? कैसे पढ़ा जाय का स्पष्टीकरण कैसे पढ़ने की आदत डालने में है। जो कुछ भी हो, जब यह सवाल सामने आते हैं तो एक ओर तो वह साहित्य सम्मुख आता है जिसके सर्जक प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, जगमोहन सिंह, बदरी नारायण चौधरी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्द नारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, तथा रामचन्द्र शुक्ल, आदि थे और दूसरी ओर वह बालक सामने आते हैं जिनका भविष्य अ से लेकर ज्ञ तक के लेखकों के हाथ में आ पड़ा है। आजकल की पाठ्य पुस्तकों के पाठों को सरसरी तौर पर देख जाइये तो भी यह बात खटकती है कि उनमें उन लेखकों के नाम नहीं के बराबर हैं जिन्होंने साहित्य साधना में अपना सर्वस्व निछावर कर दिया, जिन्होंने सरस्वती के मंदिर की चौखट कभी नहीं छोड़ी, जिनकी लेखनी की चाल में साक्षात् शारदा के नृत्य का पदचालन ही अक्षर बनकर ढलता था। उन लेखकों के लेखों को पढ़ने की इस अभिलाषा का यह तात्पर्य नहीं कि वैसे समर्थ लेखक अब होंगे ही नहीं। किन्तु यह सच है कि गद्य रचना तो आज की बहुत ही ढीली हो रही है। ऊपर से देखने पर तो गद्य रचना के लिए दो ही बातें आवश्यक प्रतीत होती हैं। एक तो लेखक में भावों की प्रचुरता और दूसरे तदुपयुक्त शब्दों में उन भावों की व्यंजना। भाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भाषा का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से तात्पर्य है कि भाव के अनुरूप ही भाषा होती है और इसीलिए भाव परिवर्तन अथवा विषय परिवर्तन के साथ साथ भाषा भी बदल जाती है। लेकिन एक और बात होती है। थोड़े से शब्दों में अधिक भाव और अधिक शब्दों में थोड़े से भाव को भी व्यक्त किया जाता है। किन्तु यह कार्य कभी तो लेखक की बेबसी और असमर्थता का परिचय देता है और कभी उसके भावों की अनस्थिरता का। जब वह अनजाने में थोड़े से भावों को अधिक शब्दों में व्यक्त कर चलता है तो यह उसके भावों के उस क्रम को, उसके भावों की उस अवस्था को, व्यक्त करता है जिस क्रम से या जिस अवस्था से या जिन स्थितियों से होकर वे भाव उसके मन में उदय होते हैं। किन्तु जब वह जानते हुए ऐसा करते हैं तो यह उनकी असमर्थता का परिचायक होता है। "इतना ही नहीं जलती झोपड़ियों पर उसने भी अपने हाथ सेंके" कहने का इतना ही मतलब है कि दूसरों के अपकार से फायदा भी उठाया। किन्तु जिस ढंग से यह व्यक्त किया गया वह ढंग लेखक का भाषा पर न केवल वह अधिकार प्रकट करता है जिसकी आज बहुधा ही कमी प्रतीत होती है, वरन् वह सहृदयता, वह सक्रिय सहानुभूति या तादात्म्य भी प्रकट करता है जिसके बिना लेखनी केवल निर्जीव और मूक शब्दों की योजना करती है। मैंने ऊपर जिन लेखकों के नाम गिनाए हैं उनमें इस बात की कमी नहीं थी। दूसरी ओर वह शैली है जिसमें सुन्दर भावों के लिए शब्दों की योजना तो बहुत ही सुन्दर होती है पर एक बार पढ़ने पर पाठक शब्दों में ही खो उठता है। तीसरे वे लोग हैं जो शब्दाडम्बर तो बहुत रचते हैं पर बहुत छानबीन करने पर भी भाव या अर्थ की निष्पत्ति प्राय: नहीं के बराबर ही होती है। ऐसी रचनाओं में ध्वनि अधिक हुआ करती है अर्थ कम। किन्तु जब हम अर्थपूर्ण शब्दों की योजना करते हैं, जब ये शब्द रसात्मक वाक्यों में गुथे जाकर रमणीयार्थ के प्रतिपादक होते हैं तभी किसी रचना को साहित्यिक कहा जा सकता है। अन्यथा शब्द और अर्थ के संतुलन ठीक न रहने पर और इस प्रकार असंतुलित होने पर, कि शब्दों के अननुरूप या उनसे हल्के अर्थों की निष्पत्ति होने लगे, तो वह केवल साहित्याडम्बर कहा जायगा। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि भावों की दुरूहता या अस्पष्टता सदैव ही दोष मानी जाय। क्योंकि भाषा भावों का परिवहन ही नहीं करती वरन् उनसे अनुप्राणित भी होती रहती है। ऐसी दशा में भाषा की दुरूहता या अस्पष्टता कभी कभी लेखक की मन:स्थिति का भी परिचय देती है। इस प्रकार का सार्थक और साभिप्राय प्रयोग समर्थ लेखक ही कर सकते हैं और कहा भी है "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।"

लेकिन बालकों के मन में भाव और भाषा दोनों का युगपत उदय होता है। फिर भी परस्पर की दौड़ में एक, दूसरे को पीछे छोड़ने की चेष्टा करता है और समर्थ भी हो जाता है। जब भाव भाषा को पीछे छोड़ देते हैं तो भाषा अस्पष्ट और दुरूह, तथा अर्थ व्यक्ताव्यक्त हो जाता है। जब भाषा भाव को पीछे छोड़ देती है तो विभिन्न शब्दों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह मेल तैयार होता है जिसे भौतिक मिश्र तो कह सकते हैं किन्तु रासायनिक योग नहीं। भाषा और भाव, दूसरे शब्दों में गिरा और अर्थ, भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं ऐसा कहा गया है। पर इस अन्योन्याश्रय सम्बन्ध के बावजूद, इस अभिन्नता के होते हुए भी भाव का पलड़ा भारी है, उसका महत्व अधिक है, और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जहाँ शब्द होगा वहाँ अर्थ भी होगा ही और जहाँ भाव होंगे वहाँ शब्द आ ही जायँगे। शब्दों के बिना अर्थ की निष्पत्ति नहीं हो सकती और अर्थ के बिना शब्द योजना नहीं। यदि भाव प्रचुर हैं, प्रभूत हैं, तो अपने अनुरूप शब्द खोज ही लेंगे, अन्यथा शरीर के अवयवों को फोड़कर, विकृत कर, निकल पड़ेंगे। इसीलिए उन भावों को जिन्हें परा, पश्यन्ती और मध्यमा ही व्यक्त कर सकती हैं या जिन्हें वैखरी नहीं बिखरा सकती उनको व्यक्त करने के लिए मनुष्य या तो अटपटी भाषा का सहारा लेता है या नृत्य और संगीत का। किन्तु इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। भाव के अनुरूप भाषा की बात थी। भाव अपने लिए भाषा ढूँढ़ ही लेते हैं और भाषा की सार्थकता इसी में है कि वह एक क्रमबद्ध निश्चित भावधारा को व्यक्त करने में समर्थ हो। भाव ही भाषा का आत्मा है। जिस प्रकार आत्मा के निष्क्रमण कर जाने पर शरीर अन्य सब अवयवों और आभूषणों के रहते हुए भी असुन्दर और निर्जीव हो जाता है उसी प्रकार भावहीन भाषा भी केवल सर्पोत्सृजित केचुल है। वस्तुतः भाव और भाषा एक ही दर्पण के दो पक्ष हैं या यों कहा जाय कि भाषा दर्पण के एक ओर लगने वाला सेंदुर है जिसके लगने पर ही भाव स्पष्ट हो सकता है। जो कुछ भी हो, यह सत्य है कि भाव और भाषा का उदय एक साथ ही होता है और इसीलिए भाषा भाव के अनुरूप होती है या होनी चाहिए। यह बात दूसरी है कि हम इस प्रकार प्रकट हुई निसर्ग भाषा की काट छांट करें, उसे उन्नत बनाने का प्रयत्न करें और इस प्रयत्न में चाहे उसे उन्नत करें अथवा अवनत, और यह लेखक के सामर्थ्य पर है।

तो यह आवश्यक है कि जहाँ तक बालकों का प्रश्न है उनके भावों की अवहेलना न होनी चाहिए। उनके भाव ही उनके सर्वस्व हैं और उनकी रक्षा उनके अभिभावकों, विशेषतः उनके शिक्षकों का परम कर्त्तव्य है। भावों की रक्षा, भाषण से अधिक लेखों में होती है और इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट है कि उनके लेखों पर विचार करते समय उनकी भाषा की अपेक्षा उनमें व्यक्त भावों पर अधिक महत्व देना चाहिए। उनके भावों में ही उनका परिचय मिलता है, और उन्हीं की मान्यता, उनमें परिष्कार और शोधन उन्हें उदात्त बनाता है। भाषा तो स्वयं रास्ता पकड़ लेती है, लेकिन दोनों का संतुलन ठीक हो, दोनों एक दूसरे को पुष्ट करते रहें इसके लिए, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बालकों को शब्दों से शराबोर करते रहना पड़ेगा। ऐसा करने के लिए जिन साधनों को काम में लाया जा सकता है उनमें पठनीय सामग्री का महत्व सर्वोपरि है। बालक जितना ही पढ़ेगा उतना ही उसके भावों में परिष्कार होगा और उसके भावों का जामा भी तदनुरूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुस्त और दुरुस्त होता जायगा। यहीं एक कठिनाई भी उत्पन्न होती है। प्रश्न उठता है उन्हें क्या पढ़ने को दिया जाय ? कैसी पुस्तकें उन्हें सुलभ करायी जाँय ? बालकोपयोगी पुस्तकों की समस्या बहुत ही कठिन है। उसे यों त्यों नहीं टाला जा सकता। यह कार्य विशेषज्ञों द्वारा विचारणीय है। किन्तु हम लोग, जिन्हें अपने बच्चों की चिन्ता है अपनी ओर से इतना ही कह सकते हैं कि उन्हें जो पुस्तकें दी जाँय वह भावों की दृष्टि से अत्यन्त सुसंस्कृत और उदात्त हों तथा भाषा तदनुरूप हो। ऐसा कहकर भी मैंने भावों पर ही अधिक जोर दिया है। संस्कृत और असंस्कृत घरों के बच्चों में जो अन्तर होता है वही अन्तर अच्छी और बुरी पुस्तकों के पढ़ने वाले बच्चों में भी होता है। संस्कृत घरों के बच्चे अच्छा लिखते भी हैं और अच्छा बोलते भी हैं। इसीलिए न कि उन्हें सौंदर्य के पारखी बनने के अधिक अवसर मिला करते हैं ? असंस्कृत घरों में यह सुविधा नहीं होती। उसी प्रकार पुस्तकों का भी प्रभाव पड़ता है। पुस्तकों के क्षेत्र में, मेरा तात्पर्य बालकोपयोगी पुस्तकों के क्षेत्र से है, हम अपनी दरिद्रता छिपा नहीं सकते और हमारे हाल के प्रयत्नों का पेवंद हमारी दरिद्रता को और भी दुखदायी बना रहा है। बालकोपयोगी पुस्तकों के नाम पर उपलब्ध होने वाली पुस्तकों में अधिकांश का यह हाल है कि उनमें भाव और भाषा का कुछ ऐसा मेल कराया गया है कि उसके पढ़ने वाले बालकों को न तो भाव ही मिलते हैं और न भाषा ही। हो सकता है कि यह प्रश्न कुछेक को विवादास्पद जान पड़े पर साधारणतः यह सभी के अनुभव की बात है और आज का बालक समुदाय दोनों दृष्टियों से अभागा है। भावों की अनुदात्तता और भाषा की कुरूपता का ही यह परिणाम है कि साधारणतः बालक अभद्र और कुसंस्कृत से देख पड़ते हैं। उनमें मेधा की कमी तो नहीं है अतः जब उनकी बुद्धि के लिए उदात्त आचार विचार की प्रस्तावना करने वाली पुस्तकें और शिक्षक नहीं मिलेंगे तो उनकी कुशाग्रता बिना टिकट के यात्रा करने में और चोरी करने पर दंड देने वाले अध्यापकों का अपमान करने में ही लगेगी। यह दुःख की बात है कि हमारे बालकों में नैतिक अधःपतन का एक कारण हमारी बढ़ती हुई गरीबी भी है किन्तु फिर भी हम उसे दूसरे तरीकों से पूरा कर सकते हैं। पर यह तो विषयान्तर हो रहा है। विचार तो लिखने और पढ़ने का हो रहा था और मैं कह रहा था कि भाव और भाषा, शब्द और अर्थ अधिकता से पुस्तकों में ही मिल सकते हैं।

भाषा सीखना, और भाषा पर अधिकार पाना दोनों दो बातें हैं। भाषा सीखने के लिए तो वर्णमाला और व्याकरण के मौलिक सिद्धान्तों का ज्ञान अलम् हो सकता है। किन्तु भाषा पर अधिकार पाने के लिए अधिक तपस्या की आवश्यकता हुआ करती है। बालक को प्रारम्भ से ही इसके लिए प्रस्तुत करना चाहिए। उसे पढ़ने की, जो कुछ भी अच्छी पुस्तक सामने पड़ जाय उसे पढ़ने की चाहे कुछ समझे या बहुत कुछ न समझे, आदत डालनी आवश्यक है। यह कार्य किसी सिद्धान्त अथवा नियम के अन्तर्गत नहीं किया या कराया जा सकता। यह तो आदत डालने के ऊपर है। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवश्य है कि पहले बालक के लिए ऐसी सामग्री प्रस्तुत करनी पड़ेगी जिसे वह समझ सके और जो उसे रुचिकर लगे। साथ ही कुछ अप्रत्यक्ष दबाव डालकर या उदाहरण उपस्थित कर उसे कुछ न कुछ जो भी भाषा में लिखा है पढ़ते रहने को उत्साहित करते रहना उसकी आदत के प्रथम सोपान हो सकते हैं। दूसरा कार्य भाषा के अच्छे नमूने या सुभाषित आदि रटाने का है। इससे भी भाषा पर अधिकार पाने में सहायता मिलती है। रटना और रटने की आदत डालने के विषय में अधिकतर रोचक सैद्धांतिक विवाद हो जाया करता है पर इतना निर्विवाद है कि भाषा की शिक्षा में किसी हद तक रटना भी लाभदायक हुआ करता है। भावों की ऊँचाई या अर्थ की गहराई तक पहुँचने के लिये भाषा के सोपान प्रस्तुत करने में यांत्रिक गति की आवश्यकता पड़ा करती है और बहुत कुछ कील कांटे जब तक यांत्रिक तीव्रता से न जोड़े जाँय तब तक सोपान उस तीव्रता से नहीं तैयार होता जिसकी कि भावों को पकड़ने में बहुधा ही आवश्यकता हुआ करती है। अतः भाषा के अच्छे नमूने और सुभाषित आदि का रटना सदैव लाभदायक हुआ करता है। संस्कृत में तो संधि समास के नियमादि भी श्लोकबद्ध होने के कारण रटने में सुकर हुआ करते हैं पर हिन्दी में वह सौकर्य नहीं। हिन्दी अधिक गद्यमय होने के कारण संस्कृत से कठिन होती है। वस्तुतः भाषा सीखने और उस पर अधिकार पाने का चरमोद्देश्य उसकी निसर्ग प्रवाहमय अभिव्यंजना में ही तो है? और यह प्रवाह तभी आ सकता है जब भाषा लिखने में प्रयास की आवश्यकता न पड़े। जब भाषा अनजान में लिखी जाय। जब भाषा लेखक की लेखनी से उसके भावों को लेकर वैसे ही निकले जैसे ऋतुराज के आने पर वृक्ष की डालों में कोपलें निकलती हैं। यह तभी हो सकता है जब लेखक के पास अक्षय शब्द भंडार हो। इतना ही नहीं उसे उनके उपयुक्त व्यवहार का ज्ञान भी हो। लेकिन इस शब्द भंडार का संचय वृद्धावस्था में नहीं हो सकता। यह तो बालकों के प्रारम्भिक जीवन का प्रयास है। प्रारंभिक अवस्था में भाषा कोश का संचय कर लेने पर बाद को खर्चने में बड़ा आनन्द मिलता है। फिर कहना पड़ेगा कि इस कोश का संचय पूर्व लिखित साधनों में सबसे अधिक पढ़ने से ही होता है। लेकिन अधिक पढ़ना पढ़ने की आदत पर निर्भर है और पढ़ने की आदत तभी पड़ सकती है जब सुरुचिपूर्ण पठनीय सामग्री सुलभ हो। इन सब प्रयत्नों का निश्चित प्रभाव बालक के मन और बुद्धि पर पड़ता है जो बाद को उसके लेखों में प्रकट होता है। जहाँ तक अनुभव की बात है मेरे देखने में वह सब लेखक जो आज शीर्षस्थानीय हैं अपनी बाल्यावस्था से आज तक अच्छे पाठक और स्मरण शक्ति के धनी रहे हैं। स्मरण शक्ति कुछ तो जन्मना होती होगी किन्तु ऐसा लगता है कि अधिकांशतः यह अर्जित की जा सकती है इसके अर्जन का एक ही तरीका सुलभ जान पड़ता है कि बालक को स्मरण करने और स्मरण शक्ति से काम लेने का अवसर दिया जाय और इसके लिये उसे प्रोत्साहित किया जाय।

लेकिन इतना ही अलम् नहीं है। भाषा ज्ञान में और उसके उच्चारण के सौंदर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकास में पढ़ने या पढ़ाने का ढंग भी अधिक महत्वपूर्ण समस्या है। प्राथमिक कक्षाओं में विशेष कर ग्राम्य क्षेत्रों में समवेत पाठ की परिपाटी सम्भवतः अब भी है। समवेत पाठ में स्वर भेद से अद्भुत रव घोषित होता है। यह तो मैं नहीं कह सकता कि उसके क्या लाभ हैं पर बालकों के कंठ और फेफड़ों की अच्छी कसरत हो जाया करती है। पढ़ने के इन ढंगों में से कौन अच्छा है या अधिक लाभदायक, मैं बिल्कुल नहीं कह सकता पर सम्भवतः दूसरा ढंग अधिक सौम्य प्रतीत होता है। इस परिपाटी के अनुसार कक्षा में एक विद्यार्थी पढ़ता है और दूसरे अपनी अपनी पुस्तक में वही पाठ देखते और समझते जाते हैं। पर इसमें कुछ दोष भी हैं। बहुधा चित्त न लगने पर विद्यार्थी मास्टर साहब को दिखाने के लिए तो आखें पुस्तक में गड़ाए रखते हैं और उंगली पंक्तियों पर फिरती रहती है पर मन खेल के मैदान में रहता है। एक और प्रकार से हानि होती है। अक्सर खराब पढ़ने वाले लड़के उतना ही पाठ पढ़ने में दुगुना और तिगुना समय लेते हैं। पूरे "कोर्स" को समाप्त करने की इच्छा के कारण मास्टर साहब अच्छे लड़कों से ही पाठ पढ़ाते हैं। कम से कम पहले यही होता था और सम्भवतः अब भी होता हो। इसका फल यह होता है कि खराब पढ़ने वालों की शैली कभी भी उन्नत नहीं हो पाती। लेकिन भाषा की शिक्षा में सस्वर पाठ और स्मरण शक्ति के उपयोग दोनों के ही महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। सस्वर पाठ से उच्चारण की शुद्धता और वाणी का सौन्दर्य प्राप्त होता है। भाषा के अच्छे उदाहरणों को स्मरण करने से भाषा में प्रवाह तथा शैली में मौलिकता आती है। यह बात कुछ अटपटी सी भले ही प्रतीत होती हो पर वास्तविकता यही है। यह जान लेने पर कि यह प्रयोग अमुक का है किन्तु आवश्यकता इन्हीं शब्दों की है मौलिकता का पुजारी लेखक सदा शैली की नवीनता और परिवर्तन की ओर झुक पड़ता है। बालकों के विषय में भी यही बात होती है। उन्हें शब्द और उनकी शक्ति तो याद रह जाती है प्रयोग बहुधा भूल जाया करता है और जब वे स्वयं प्रयोग करने बैठते हैं तो एक नवीन चमत्कार उत्पन्न करते हैं।

लेकिन यह सारी बातें तभी सम्भव हैं जब हमारे बालकों के लिये विविध विषयों पर अच्छी पुस्तकें सस्ते दामों सुलभ हों। भाषा के अच्छे नमूने तो भाषा में ही मिलते हैं चाहे विषय कुछ भी हो। पुस्तकें आकर्षक तब होती हैं जब वे सुसज्जित हों और उनका उपयोग तब हो सकता है जब सब को इनकी जानकारी हो तथा सस्ती हों। न तो राजकीय और न सामाजिक, एक भी अभिकरण ऐसा नहीं है जो समाचार पत्रों द्वारा या इस विषय के लिए विशिष्ट समीक्षा पत्रों द्वारा जनता को बराबर इस बात की सूचना देता रहे कि अमुक विषय पर अमुक अच्छी पुस्तक प्रकाशित हुई है। यदि आज यह कोई जानना चाहे कि हिन्दी भाषा में सर्वोत्तम पुस्तकें कौन सी हैं तो जनता के लाभार्थ कोई ऐसी सूची प्रस्तुत नहीं है जो सब को सुलभ हो। मैं यह कहा रहा था कि भाषा के साधु प्रयोग और अच्छे नमूने किसी भी विषय की पुस्तक में मिल सकते हैं पर भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की विविधता, शैली का महत्व, भाषा का निखार, उसका मजाव, प्रयोगों की साधुता वा असाधुता और उसकी सजीवता के जितने अधिक उदाहरण या इनके लिए जितना अधिक अवसर साहित्यिक ग्रन्थों, विशेषतः गद्य साहित्य में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। अतः यह आवश्यक है कि हमारे बालकों को पढ़ाई जाने वाली साहित्य सम्बन्धी पुस्तकों के संपादन और प्रकाशन में इन बातों का विशेष ध्यान रखा जाय। जब मैं इन पुस्तकों में वर्तमान लेखकों की कृतियों को स्थान न देने या अपेक्षाकृत कम स्थान देने की बात कहता हूँ तो मेरा मतलब उनकी उपेक्षा या उनमें दोष दिखलाने से कदापि नहीं है। आज भी प्रौढ़ साहित्य की रचना हो रही है। जीवित लेखकों में बहुत से ऐसे लेखक हैं जिनकी कृतियों पर कोई भी राष्ट्र गर्व कर सकता है। गद्य के क्षेत्र में बाबू शिवपूजन सहाय, श्री निराला, श्री सम्पूर्णानन्द जी तथा अन्य कई लेखक हैं जिनके गद्य की सजीवता बरबस ही लोगों को मोह लेती है। यदि हम स्वयं सौन्दर्य के पारखी न भी हों तो भी साहित्यक कृतियों के समालोचक तो होते ही हैं। उनके साक्ष्य पर हम किसी कृति को सुन्दर असुन्दर या क्षणिक और अमर घोषित ही करते रहते हैं। साधारणतः हम उन्हीं की आँखों देखते हैं और उनकी मान्यता साहित्यिक जगत में होती ही है। जिस प्रकार कवि विशेष प्रतिभा सम्पन्न पुण्यात्मा देहधारी नरश्रेष्ठ होता है उसी प्रकार उसके आलोचक भी विशिष्ट दृष्टि सम्पन्न और कला पारखी जौहरी होते हैं। साधारण मानव, साहित्य की हाट में इन्हीं जौहरियों के साक्ष्य पर अपना सौदा करता है। यों तो खरीदने वाले की भी अपनी परख काम करती ही है। लेकिन यह सब होते हुए भी साहित्यिक या कला कृति का सबसे बड़ा समालोचक और पारखी काल-समय-होता है। वह अपनी कसौटी पर हमारी कृतियों को सब के बाद कसता है पर कसता है सब को और निर्दयता पूर्वक खरा खोटा कहकर कभी-कभी पूर्व निश्चित मूल्यवान रत्नों को भी फेंक देता है। इसीलिए मैं सोचता हूँ कि जहाँ तक बालकों का सम्बन्ध है उन्हें वे ही कृतियाँ अधिक पढ़ाई जाँय जो काल की कसौटी पर खरी उतर चुकी हों।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचनात्मक कार्य—एक संस्मरण

देवीदीन त्रिवेदी

पिछले कुछ वर्षों के संगठन और सामूहिक कार्य के फलस्वरूप हमारी विभिन्न इकाइयों में एक निकट सम्पर्क स्थापित हो गया था। विशेषकर अच्छे स्तर के सांस्कृतिक कार्य क्रम से रायबरेली जिले में और जिले के बाहर जन समूह को आकर्षित करने में हमारी शिक्षा संस्थायें, विशेषतया प्रशिक्षण संस्थायें (राजकीय नार्मल स्कूल और सचल शिक्षा दल) आशातीत सफलता प्राप्त कर चुकी थीं। नगर के बाहर तो ऐसे प्रदर्शनों को इतना पसन्द किया गया कि प्रत्येक अवसर पर बहुत बड़ा जन समूह एकत्र होता रहा। जूनियर हाई स्कूलों और अच्छे प्राइमरी स्कूलों ने भी जहाँ-तहाँ इनका आयोजन किया और उनको बड़ा प्रोत्साहन मिला।

इसी जन सम्पर्क की पृष्ठ भूमि पर अप्रैल सन् '५२ में हमारे सहकारियों का ध्यान रचनात्मक कार्य की ओर गया। बहुत से नये जूनियर हाई स्कूल और राजकीय योजना में अधिकांश प्राइमरी स्कूल छप्पर और पेड़ की छाया में चलते थे। नवयुवक अध्यापकों—विशेष कर सचल शिक्षा दल के छात्राध्यापकों और नार्मल स्कूल के प्रवेशार्थियों को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि इस जन सम्पर्क को संध्याकालीन मनोरञ्जन तक ही सीमित न रख कर, उससे ग्रामवासियों का सहयोग प्राप्त करके स्कूल की पूरी-पूरी इमारतें बना कर खड़ी करदी जायँ। मरम्मत आदि तो थोड़ी बहुत पहिले से भी इच्छा अथवा अनिच्छा पूर्वक अध्यापक कभी-कभी करा लिया करते थे। परन्तु यदि पूरी इमारत छात्रों, वर्तमान अध्यापकों, भावी अध्यापकों और नागरिकों के विशेष प्रयत्न से ही उठती हुई दिखाई पड़े तो इस बात की सम्भावना अवश्य होगी कि उनके हृदय में उस इमारत के प्रति एक गौरव पूर्ण भावना और साथ ही उसके लिये सक्रिय दर्द होगा जो उसको गिरने और खराब होने से बचावेगा भी।

आरम्भ में दो सामाजिक सेवा शिविर चुने गये। एक—"जगतपुर" में नार्मल स्कूल के प्रवेशार्थियों द्वारा पक्का जूनियर हाई स्कूल बनाने के लिये और दूसरा—"बेलामेला" में कच्चा जूनियर हाई स्कूल सचल शिक्षा दल के छात्राध्यापकों द्वारा। जगतपुर में सूबेदार रामनाथसिंह ने एक हाल अपने व्यय से बनवाने के लिये कहा। स्थानीय कार्यकर्ता और अध्यापक भी रुपया और सामान एकत्र करने में लग गये। एक पुराना पक्का मकान ७५ रुपया की नाम मात्र की लागत में मिल जाने से ईंटों की बड़ी सुविधा हुई। परन्तु प्रवेशार्थियों में शिक्षितों की श्रम से भागने की आदत पूर्ण रूप से व्याप्त थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवेशार्थियों की संख्या लगभग ८० के थी। अनुभव की कमी एवं असह्य गर्मी के कारण अनावश्यक कष्ट भी हुआ फिर भी श्री इन्द्रजीत सिनहा उप विद्यालय निरीक्षक और उनके सहकारियों की लगन से इमारत पूरी होकर रही। केवल पक्की छत का काम शेष था जिसके लिये कुशल कारीगरों की ही आवश्यकता थी।

"बेला मेला" में वातावरण और भी विचित्र था। जिस समय श्री ज़की रज़ा प्रधान निर्देशक अपने सचल शिक्षा दल के ५० छात्राध्यापकों को लेकर वहाँ पहुँचे, गाँव वालों को यह विश्वास ही न था कि ये पढ़े लिखे लोग इमारत का एक कमरा भी बना सकेंगे। दूसरे, स्थानीय कार्यकर्ताओं और ग्राम सभापति ने चन्दा करना, सामान और लकड़ी माँगना, काटना, ढोना तथा इमारत में केवल एक दो मनचले ग्राम वासियों की सहायता से ही पूरा काम करना दल के ही ऊपर पूर्णतः छोड़ दिया। यहाँ तक कि जो सामान मिल सकता था उसके उपयोग के लिए किराया देना पड़ा। नया काम, मई की कड़ी गर्मी, प्रारम्भिक असहयोग की उलझनें और कठिनाइयाँ सब ने मिलकर इस शिविर को तो इस योजना का एक कठिन परीक्षा-स्थल बना दिया था। मैं यहाँ तक तैयार हो चुका था कि इस कुसमय में शायद मुझे एक सप्ताह शिविर में रहना पड़े। सुबह शाम ईंट गारा और लकड़ी का काम करके, दोपहर में "लोकई महराज" की जै बोलकर, घर-घर फूल माला पहिना-पहिना कर चन्दा एकत्र किया गया जिससे कि आवश्यक दैनिक व्यय पूरा होता रहा। उस आवश्यक व्यय में दो राजों का व्यय भी सम्मिलित था क्योंकि साल भर के अनुभव के बाद भी हम यह आवश्यक समझते हैं कि कोने की जुड़ाई, सूत बाँधने, डाट बनाने, और कुछ ऐसे ही अन्य कार्यों के लिए दो राज नितान्त आवश्यक हैं। अनुभवी लड़के बीच की सारी जुड़ाई कर लेते हैं और इतना सामान राजों के सर पर मढ़ते रहते हैं कि वह स्वयं बहुत तेज काम करें। सारे कामों की प्रगति तीव्रता के साथ होती रहती थी। रात में सांस्कृतिक कार्य—कीर्तन, प्रहसन, व्यंग, ग्रामगीत, प्रचार, प्रार्थना और भर्त्सना सभी से युक्त होता था। अन्तिम दिन जब कि बढ़ई आदि को लगभग १०० रुपया देना शेष था तो 'यमराज और उनके नर्क' के प्रदर्शन से ही उत्तेजित होकर ग्राम सभापति ने ५० रुपया और चारों ओर बैठे ग्रामवासियों ने लगभग आधी रात को ५० रुपया देकर हमारे जन सम्पर्क के इस नए प्रभावशाली साधन पर सफलता की छाप लगा दी। इमारत पूरी हो गई। जिले की जनता और समाचार पत्रों ने हमारे ऊपर विश्वास प्रकट किया। २९ जुलाई १९५२ को शिक्षा संचालक महोदय ने स्वयं आकर जगतपुर में शिलान्यास किया। "बेला मेला" की पूर्ण और सजी सजाई इमारत का उद्घाटन भी किया। यहीं पर उन्होंने सांस्कृतिक कामों का वह सुन्दर क्रम भी देखा जिसकी सहायता से हमने जन सम्पर्क का आश्रय लेकर अपने कार्य को सफल बनाया था। हममें आत्म-विश्वास था कि हम ऐसे कठिन स्थलों पर काम पूरा करने के बाद जिले के किसी कोने में जाकर डट सकते हैं।

२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बरसात में काम बन्द करना पड़ा। परन्तु योजनाओं और प्रारम्भिक सम्पर्कों की गति जारी रही। दशहरे तक तीन इमारतों का और अन्तिम प्रबन्ध हो चुका था कि इतने में सचल शिक्षा दल के सभी निर्देशक प्रयाग के निकटवर्ती प्रादेशिक शिविर 'सोरॉव' में बुला लिए गये। उस शिविर में प्रान्त के सभी शिक्षा दल के प्रधान-निर्देशक और कुछ सहायक निर्देशक भी थे। यह प्रसन्नता की बात है कि रायबरेली के अनुभवी दल ने वहाँ की इमारत खड़ा करने, जन सम्पर्क स्थापित करने और प्रदर्शनी में चन्दा जमा करने में प्रमुख भाग लिया। परन्तु इसमें ६ सप्ताह लग गये और ज़िले की इमारतों का काम उस काल तक के लिए स्थगित करना पड़ा जबकि जाड़े की वर्षा के कारण कच्ची इमारतों के बनाने में लगातार कार्य नहीं सम्भव था।

यह योजना का दूसरा संगठन काल है। दोस्तपुर में ऋतु अनुकूल न होते हुये भी १५ दिन के अन्दर नार्मल स्कूल के छात्राध्यापकों के एक दल ने वहाँ की पक्की इमारत बना डाली जिसकी ईंटें कई वर्षों से पड़ी थीं। जो कुछ आठ दस हज़ार ईंटों की कमी हुई उसे वहाँ के एक अवकाश प्राप्त रेलवे अधिकारी श्री माधव प्रसाद त्रिपाठी ने पूरा किया। उन्होंने हमें पर्याप्त सहयोग दिया। नार्मल स्कूल के दूसरे दल ने किलौली की कच्ची इमारत और चहारदीवारी पूरी की जहाँ १९४७ से बार-बार योजना बनती थी, चन्दा जमा होता था, और उचित संगठन तथा जनशक्ति के अभाव में समाप्त होकर ग्रामवासियों में एक नया अविश्वास और निराशा भर जाती थी।

सोथी में रबी की फसल में ओले पड़ चुके थे। फिर भी ग्रामवासियों ने और विशेषकर ग्राम सभापति श्री छत्रपालसिंह ने यह जानकर कि अवसर बार-बार नहीं मिलेगा निश्चय कर लिया कि सचल शिक्षा दल को हम पूर्ण सहयोग देंगे। ग्राम सभापति ने तो एक अभिभावक को जो श्रम काल में अपने बच्चे को स्कूल से हटा लेना चाहता था इन खुले शब्दों में डाँटा "यह पढ़े लिखे ५० अध्यापक हमारे नौकर नहीं हैं। तुम्हारा लड़का काम करेगा, तुम काम करोगे, हम काम करेंगे और सब गाँव काम करेगा।" पास के जूनियर हाई स्कूल महराजगंज के विद्यार्थियों ने पूरी चहारदीवारी स्वयं बना डाली। इस अपूर्व सहयोग का फल यह हुआ कि इमारत १२ दिन के अन्दर बन कर तैयार हो गई यद्यपि ईंटों की अस्थायी कमी हो जाने के कारण कार्य कुछ मन्थर गति से चलता रहा। साथ ही हाजीपुर, राजामऊ (तिलोई) में दो इमारतें हमारी सलाह और सामान्य सहायता देने पर ही बन गईं। इस प्रकार जनवरी १९५३ के अन्त तक ७ इमारतें पूरी बन चुकी थीं। इनमें हर एक तीन या चार अध्यापकों के बैठने योग्य है और इनमें से २ पक्की हैं। जैसे-जैसे हमारा अनुभव बढ़ता गया इमारत का स्तर अच्छा भी होता गया। गाँव वालों का सहयोग और सामान भी अधिक मजबूत और अधिक संख्या में प्राप्त होता रहा।

इस बीच हमारे ठोस कार्यों के कारण हमारी योजना पर पंचस मण्डल लखनऊ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कुछ और जिलों में भी युवक और उत्साही कार्यकर्त्ताओं के प्रयास से कार्य आरम्भ हो चुका है। हमें विश्वास है कि इस कल्याणकारी स्पर्धा में प्रत्येक जिला इमारतों की संख्या, रचना काल की कमी, और कार्य के स्तर में सदैव एक दूसरे से आगे रहने का प्रयत्न करेगा। रायबरेली में हमारे सामाजिक सेवा दलों की मांग बहुत बढ़ती जा रही है। हमारे पास आवेदन पत्र बढ़ती हुई संख्या में आ रहे हैं कि हमने इतनी ईंटे, इतनी लकड़ी, इतना चन्दा जमा कर लिया है और सामाजिक सेवा दल की तिथि निश्चित की जाने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। जहाँ कहीं सभापति, अध्यापक, अथवा कोई प्रमुख जनसेवी व्यक्ति की विशेषज्ञ सहायता तथा ५ मील के व्यास के अध्यापक, जूनियर हाई स्कूल तथा प्राइमरी स्कूल के सयाने विद्यार्थियों और ग्रामवासियों की सहायता से ही कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

प्रजातंत्र दिवस १९५३ से आरम्भ होने वाले सप्ताह में प्राप्त हुई रिपोर्ट के आधार पर चिलौली, कटौरा, बरहवाँ, सवैया धनी, पारी, पहाड़गढ़, मिर्जापुर ऐहारी, पिलखा चिचौली, दीपेमऊ, टोंक, कुढ़ा और पोरई इन १२ स्थानों में कार्य आरम्भ हो चुका था। परीक्षा की निकटता और स्थान के बाहुल्य के कारण यह सम्भव नहीं था कि प्रत्येक स्थान पर समाज सेवा दल अपनी पूरी संख्या में भेजा जा सके और न यह आवश्यक ही है क्योंकि इस तीसरे प्रसार काल में यह योजना बनाई गई थी कि केवल ५ या ६ अनुभवी कार्यकर्ता सूचना, सङ्गठन, विशेषज्ञ सहायता और आवश्यक अनुदान की संस्तुति के लिए प्रत्येक स्थान पर रहें और पास के अध्यापकों, लड़कों और ग्रामवासियों के श्रम-धन के सफल उपयोग का अनुभूत मार्ग बताने में स्थानीय कार्यकर्ताओं की सहायता करें। इस प्रकार इन १२ जगहों में प्रायः सभी स्थानों में शीघ्र दीवालें उठनी आरम्भ हो गईं और सामान जमा होना शुरू हो गया।

इनके अतिरिक्त सब्जी, उफरापुर, मुरैनी, पहाड़पुर, मर्दानपुर, मलके गाँव, अकबरपुर फर्शी, गोपालगंज और जलालपुर में चन्दा तथा सामान एकत्रित होने लगा। गोपालगंज, जलालपुर और मलके गांव में पक्की इमारत बनाने की योजना बनी। ग्राम सभापतियों और स्थानीय कार्यकर्ताओं को इसी बात का प्रोत्साहन दिया गया कि वह पक्की इमारतें बनाने का प्रयत्न करें। जमींदारी उन्मूलन के कारण ग्रामसभापतियों के पास बंजर और परती की फुटकर लकड़ी के सार्वजनिक कार्यों में सदुपयोग करने की सुविधा हो गई है। इससे उन्हें ईंटों के भट्टे लगाने, और छत पाटने की लकड़ी एक साथ ही मिल जाती है क्योंकि डालियों और लकड़ी के टेढ़े मेढ़े भाग भट्टे में चले जाते हैं और तने से तख्ते, कड़ी, और पाटने का सामान मिल जाता है।

जो ईंटे अब पाथी जा रही हैं उनमें "शिक्षा" खुदा हुआ है और थोड़े दिनों में जब कि जिले की बहुसंख्यक इमारतों की प्रत्येक ईंट "शिक्षा" शब्द से अनुप्राणित हो जायगी तो उस समय हम अपने रचनात्मक प्रयत्न को सफल मानेंगे। ऐसे ईंटों के दर्जनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांचे जिले भर में व्यवहृत हो रहे हैं और अधिकांश बच्चों के द्वारा "निर्माण की इकाइयाँ" तैयार हो रही हैं।

रचनात्मक सप्ताह में एक लाभप्रद कार्य और हुआ। प्रत्येक जूनियर हाई स्कूल को केन्द्र मानकर ५ मील के अन्दर जितनी भी इमारतें इस भाँति की मिलीं उनकी साधारण और विशेष मरम्मत की योजना कार्यान्वित की गई। कटी हुई दीवारों में मिट्टी भरना, चहार दीवारी बनाना, फर्श समतल करना, पुताई करना और सजावट के काम पचासों प्राइमरी स्कूलों में किए गये। मेरा विश्वास है कि यदि यह संक्रामक भावना और फैल सकी तो जिला बोर्डों की यह कष्टदायक समस्या स्थानीय प्रयत्नों से ही दूर हो जायगी।

हमने कार्य कम किया है या अधिक यह बतलाना तो हमारा काम नहीं है। किन्तु हमें प्रसन्नता है कि हमने अपने जिले में बड़े-बड़े, मजबूत और गन्दे हाथों वाला एक भूत खड़ा कर दिया है जिसको काम बताने और काम में लगाये रहने की हमें चिन्ता पड़ गई है। माँग निरन्तर बढ़ रही है और हम अपने सीमित साधनों और कार्य-कर्ताओं की संख्या में रक्तबीज की परम्परा के अनुसार तीव्र वृद्धि कर रहे हैं। संक्रामक रूप से ग्राम सभापतियों का भी उत्साह बढ़ रहा है। इस समय हमारे प्रत्येक अधिकारी में ठोस काम करने की लगन है और प्रत्येक अध्यापक के हृदय में अपनी और अपने पड़ोस की इमारतों के लिये एक न मिटने वाली वेदना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर-प्रदेश में कला-शिक्षण की प्रगति

सुरेश चन्द्र गर्ग, एम० ए०, एल० टी०,
कला प्राध्यापक, राजकीय बेसिक प्रशिक्षण महाविद्यालय, लखनऊ

सन् १६३६ से पूर्व, हमारे स्कूलों में "कला" केवल कुछ रेखाओं और वृत इत्यादि बनाने की अरुचिपूर्ण विधि तक ही सीमित थी या किसी ड्राइङ्ग की पुस्तक में दिये हुये आकार को (जो प्राय: ग्रीक या रोम के अवनति काल के होते थे) बड़ा या छोटा करके बनवाना अथवा किसी भी एक माडल को सामने रख कर वस्तु-चित्रण कराना, इत्यादि। कला अध्यापक का कार्य केवल बच्चों को अमुक काम करने की आज्ञा देकर, शेष घंटे या घंटों कुर्सी पर बैठ कर ऊँघना, बच्चों के बनाये हुये कुछ आकारों में कहीं-कहीं संशोधन करना, और फिर अंत में उन पर हस्ताक्षर कर देना मात्र था। कला-अध्यापक को न तो बच्चों की रुचि देखने से मतलब था और न कला के विषय का ज्ञान प्राप्त करना ही उसका ध्येय था। उसने कभी "कला" शब्द की परिभाषा, परख अथवा भारतवर्ष में कला की विभिन्न धाराओं के विषय में जानने तक का प्रयास नहीं किया और दूसरे देशों की कला का उसको ज्ञान होना तो बहुत दूर की बात थी। जो बच्चे कला में कुछ रुचि रखते थे वे केवल पान की दूकान जैसे चित्रों की नक़ल करके या कुछ भद्दे फोटों को पैन्सिल से बना कर अपनी कला-तृष्णा की तृप्ति कर लेते थे।

कला-शिक्षण के इस अवनति काल में दूसरे देशों के शिक्षा विशारदों ने रंग, कोयले और मिट्टी द्वारा बच्चों के स्वतंत्रभाव-प्रकाशन की प्रवृति पर कुछ अनुसंधान किये और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस प्रकार का स्वतंत्र-भाव-प्रकाशन बहुत अंश तक कला की वास्तविक परिभाषा के अनुकूल है जो उस समय तक उनको केवल व्यक्तिगत विचार, भाव या प्रेरणाओं का, किसी भी माध्यम द्वारा प्रकटीकरण मात्र ही था। चित्र संख्या १, (पृष्ठ १४ के सामने) जिसमें बच्चे द्वारा डर का भाव प्रदर्शित किया गया है इस तत्व की पुष्टि करने में सहायक होगा।

उपरोक्त ढंग की बच्चों की कला, इंङ्गलैंड, फ्रान्स, रूस, अमेरिका, चीन तथा जापान आदि देशों में बहुत मान्य समझी जा रही थी और भारतवर्ष भी इस विषय में किसी देश से पीछे नहीं रहा। उत्तर-प्रदेश में, स्वर्गीय श्री मनोहर लाल की देख-रेख में चित्रों, डिजाइनों तथा मिट्टी के बर्तनों द्वारा स्वतंत्र-भाव-प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया गया। इस समय "कला" केवल स्वतंत्र-भाव-प्रकाशन तक ही सीमित न थी वरन यह प्रयत्न किया जा रहा था कि बच्चों की कला-कृति सुरुचिपूर्ण भी हो और दर्शक को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंतरिक प्रसन्नता भी प्रदान करें, जिसके लिये विभिन्न कला सामग्री, उसके यंत्र और उपयोगिता के अनुकूल प्रयोग करना तथा कला-तत्वों का ज्ञान जैसे संयोजन (जिसमें संतुलन, पुनरावृति, विभिन्नता और प्रमुखता आदि हैं), अनुपात, और स्थिति-जन्यलघुता का ज्ञान अनिवार्य समझा जाने लगा। चित्र संख्या २ द्वारा यह दिखाया गया है कि किस प्रकार बच्चों का स्वतंत्र-भाव-प्रकाशन, सुरुचिपूर्ण रंगों के संयोजन, अनुपात अथवा स्थिति जन्य-लघुता के कला-तत्वों का ज्ञान, चित्र को सुन्दर बनाने में सहायक होते हैं।

हमारा यह प्रयास, बच्चों के स्वतंत्र-भाव-प्रकाशन द्वारा उसके मनोविकार दूर करके एक मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार, बच्चों को एक श्रेष्ठ नागरिक बनाने तक ही सीमित न रहा वरन हमने बच्चों के इस रुचिपूर्ण कार्य को उनके भाषा, गणित, सामाजिक विषय तथा विज्ञान इत्यादि पढ़ाने के लिये भी प्रयोग किया जैसा कि चित्र संख्या ३ और ४ से प्रकट होगा।

हमने व्यवहारिक तथा व्यवसायिक कला के क्षेत्रों में भी बच्चों से कार्य कराना आरम्भ किया जिसमें उन्होंने पुस्तक के अन्त के प्रपत्र, बिक्री की वस्तुओं को लपेटने के कागज, कपड़ों की छपाई के डिजाइन और शिक्षा, समाज, संस्कृति तथा व्यवसाय के विज्ञापन तक बनाये। आसन, दरी, कालीन व बर्तन इत्यादि के डिज़ाइन बना कर उनको दस्तकारी में प्रयोग कराया गया। प्राकृतिक पत्ती, पौधों व फूल इत्यादि के चित्रण द्वारा उनको सरल और अलंकारिक बना कर हम इन सब वस्तुओं के डिजाइनों के लिये सुन्दर इकाईयाँ सरलता से प्राप्त कर लेते थे। "कला" का कार्य, केवल रंग तक ही सीमित न रहा वरन हमने मिट्टी द्वारा स्वतन्त्र-भाव-प्रकाशन से लेकर, गोलियों द्वारा माला बनाना, खिलौने बनाना, बर्तन बनाना, उभारदार डिज़ाइन बनाना, दैनिक-जीवन के प्रयोग की वस्तु जैसे क़लमदान, साबुनदान, पुस्तक-आधार तथा बिजली का लैम्प-स्टैन्ड इत्यादि और साथ ही साथ, कक्षा में और विषयों का ज्ञान कराने के लिये रेत की तख्ती पर दैनिक-जीवन व अन्य देशों के दृश्य इत्यादि भी बनवाये। साबुन, मोम, क़ागज की लुब्दी, पैरिस प्लास्टर व सीमैन्ट इत्यादि का प्रयोग, कमरा व बाग सजाने के लिये, सुन्दर माडल बनाने में किया गया।

अब भी हम सन्तुष्ट न थे कि जो कुछ हमने किया है वह भारत की भावी कला को उन्नत-रूप देने में पर्याप्त होगा। इस प्रकार की कला जो हमने अपने बच्चों के सामने रखी, वह "कला" तो अवश्य थी परन्तु वह भारतीय संस्कृति, काम करने की विधि तथा विषय के आधार पर, बिल्कुल ही विदेशी थी। इसको उचित रूप देने के लिये यह आवश्यक समझा गया कि हम आधुनिक माध्यम और काम करने की विधियों का प्रयोग करते हुये भारत की कला की प्राचीन परम्परा (जो कि अपनी रेखाओं द्वारा भाव-प्रकाशन, सादृश्य, छाया और प्रकाश, व एकसार रंगों के आकार पास-पास सजा कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(चित्र संख्या १)

(चित्र संख्या २)

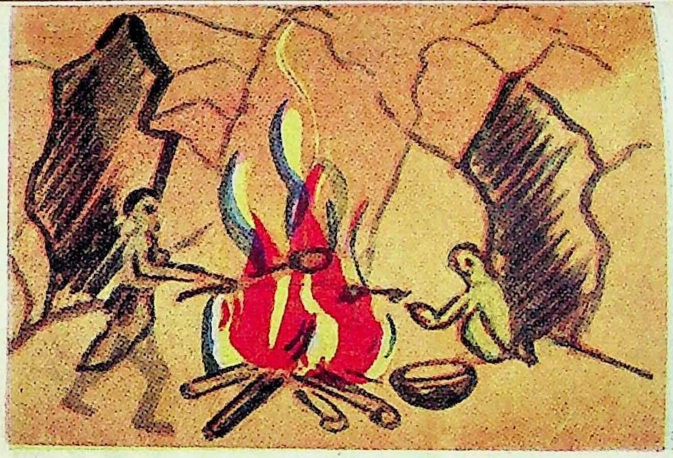

(चित्र संख्या ३)

(चित्र संख्या ४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंगों की मिलावट, अथवा हर प्रकार की सजावट में कमल, हाथी, चिड़िया या अन्य विचित्र आकारों का प्रयोग करने में विख्यात थी) एक सामंजस्य उत्पन्न कर सकें ।

इतनी उच्च-कोटि के कार्य, बेसिक स्कूलों की छोटी कक्षाओं के सामर्थ्य के बाहर थे इसलिये हमने ये चीज़ें, हाई स्कूल तथा इएटरमीडियेट कक्षाओं के पाठ्य-क्रम में सम्मिलित कराने का प्रयत्न किया जिसमें हमें बहुत अंश तक सफलता मिली है और आशा है कि आगे भी हम इस ओर, और उन्नत-रूप में पग बढ़ा सकेंगे । यह कार्य और भी अधिक सफल हो सकता है यदि हम प्रारम्भ से ही, बच्चों को भारतीय कला प्रदर्शनी इत्यादि में ले जायें या बेसिक स्कूल की कक्षाओं में, भारतीय कला के कुछ उत्तम चित्र बच्चों को दिखाने के लिये रख सकें और समय-समय पर उनकी विशेषताओं का ज्ञान कराते रहें ।

इतना कार्य कर लेने के पश्चात्, हमको कुछ समय रुक कर देखना होगा कि कला का यह नया दृष्टि-कोण बच्चों में कला की परख और भारतीय कला को उन्नत करने में कहाँ तक सफल हुआ है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा में व्यक्तिगत सम्पर्क की आवश्यकता

लाल जी राम शुक्ल

संसार के सभी सभ्य देशों की सभी शिक्षा प्रणालियाँ लौकिक सफलतावादी अथवा बुद्धिवादी हैं। इन शिक्षा प्रणालियों में मनुष्य के व्यक्तित्व के उन भावों का विकास नहीं होता जो मनुष्य को मनुष्य के साथ शान्ति पूर्वक रहने की क्षमता प्रदान करते हैं। टालस्टाय महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि आधुनिक विज्ञान से मनुष्य को सभी कुछ सिखाया जाता है परन्तु उसे अपने पड़ोसी के साथ रहना नहीं सिखाया जाता। विज्ञान की वृद्धि से मनुष्य की सुख की सामग्री बढ़ गई है। परन्तु उसमें एक दूसरे को विनष्ट करने की भी शक्ति बढ़ गई है। यदि शिक्षा की प्रगति केवल बुद्धिवादिता की ओर रही तो एक दिन संसार के सभी लोगों के विनाश का प्रश्न उपस्थित हो जावेगा। वर्तमान शिक्षा प्रणाली मनुष्य को शक्ति देती है। वह उसे शान्ति नहीं देती। शान्ति प्राप्ति के लिये हृदय की शिक्षा की आवश्यकता है। मनुष्य को उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शिक्षा ही शान्ति दे सकती है।

जब शिक्षक और शिष्य एक दूसरे के समीप आते हैं तो एक के विचार, इच्छायें, आकांक्षायें, और भाव दूसरे के बन जाते हैं। मनुष्य में चरित्र के गुण व्यक्तिगत सम्पर्क से ही आते हैं। विचारों की शिक्षा तो पुस्तकें पढ़कर हो जाती हैं। आजकल के विद्यालयों में विद्यार्थियों की केवल बौद्धिक शिक्षा होती है। उनके चरित्र और भावों की शिक्षा नहीं होती। मनुष्य के जिस अंग पर ध्यान दिया जाता है उसका बल बढ़ जाता है और जिसकी अवहेलना होती है उसका बल घट जाता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में मनुष्य की बुद्धि के विकास की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। उसकी पैसा कमाने की शक्ति बढ़ायी जाती है। उसके भावों के विकास की ओर तथा उसकी दूसरों के लिये त्याग करने की शक्ति की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। अतएव विद्यार्थी में बुद्धि बढ़ जाने पर और रुपया कमाने की शक्ति आ जाने पर भी उसमें दूसरों के साथ रहने की, उनके दुःख सुख के अनुभव की क्षमता नहीं आती। इस प्रकार की शिक्षा शिक्षक और शिष्य के व्यक्तिगत सम्पर्क से और व्यक्तिगत विचारों के आदान प्रदान से होती है।

प्राचीन काल की शिक्षा प्रणाली में बालकों की शिक्षा गुरु के घर अथवा मठ में होती थी। इससे गुरु से व्यक्तिगत सम्पर्क रहता था। शिष्य गुरु के लिये और गुरु शिष्य के लिये सभी कुछ त्याग करते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे एक दूसरे के सुख दुःख में भाग लेते थे। जीवन की छोटी-छोटी बातों को जानने से और उनके विषय में बातचीत करने से मनुष्य के भावों की शिक्षा होती है। जो व्यक्ति किसी व्यक्ति की सुख-दुःख की बातें सुनता है वह उसका स्नेह भाजन बन जाता है। ऐसे व्यक्ति का प्रभाव दूसरे की न केवल बुद्धि पर पड़ता है, वरन् उसके हृदय पर भी पड़ता है। इससे दोनों में ही परिवर्तन व्यक्तिगत सम्पर्क से होता है।

मनुष्य जीवनोपयोगी बातें किसी से भी सीख सकता है। आजीविका कमाने के साधन ऐसे व्यक्ति से भी सीखे जा सकते हैं जिसे सीखने वाला हृदय से घृणा करता है। परन्तु चरित्र बनाने की बातें उसी व्यक्ति से सीखी जा सकती हैं जिसके प्रति शिक्षार्थी की श्रद्धा हो अर्थात् जिसे वह चरित्रवान समझता हो और हृदय से उसे प्यार भी करता हो। मनुष्य की जिस व्यक्ति में श्रद्धा होती है उसके भले गुणों को वह अनायास ग्रहण कर लेता है। यदि ऐसे व्यक्ति के प्रति उसका स्नेह भी हो तो ये गुण और जल्दी आ जाते हैं। इस प्रकार का स्नेह सम्बन्ध व्यक्तिगत बात-चीत और कार्यों के द्वारा होता है।

यह बात अब सभी लोग मानने लगे हैं कि जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है मानसिक रोगों की वृद्धि होती जा रही है। सभ्यता के साथ-साथ मनुष्य की आकांक्षायें और इच्छायें बढ़ती जाती हैं लेकिन इनकी तृप्ति का मार्ग नहीं निकलता; थोड़े लोग तो अपनी इच्छाओं की तृप्ति कर पाते हैं, परन्तु अधिक लोग दुःखी ही बने रहते हैं। यही दुःख मानसिक रोग बन जाता है। इच्छा की तृप्ति करते रहने पर जो सामाजिक संघर्ष होते हैं उसके परिणामस्वरूप बड़े-बड़े विनाशकारी युद्ध होते हैं। इच्छाओं की तृप्ति के पीछे पड़े लोगों में विवेकशीलता नहीं आती। उनकी इच्छा की तृप्ति में बाधा डालने वालों का विनाश कर डालना उनका प्रमुख उद्देश्य हो जाता है। फिर इस प्रकार दूसरों का विनाश करते-करते वे स्वयं का ही विनाश कर डालते हैं। यदि उत्ते-जित इच्छाओं का दमन किया जाय तो वह भी हानिकारक होता है। इसी प्रकार की इच्छाओं के दमन से व्यक्तित्व का विच्छेद हो जाता है। मनुष्य का कल्याण इच्छाओं की शक्ति को सन्मार्ग पर लगाने से ही होता है। इसके लिये समुचित संयम के अभ्यास की आवश्यकता है। यह संयम व्यक्तिगत सम्पर्क से ही आता है।

सभी प्रकार के सामाजिक और व्यक्तिगत असन्तोष की जड़ मनुष्य की इच्छा शक्ति की कमी में पाई जाती है। जब मनुष्य में न्याय के संस्कार दृढ़ नहीं होते तो वह स्वार्थवश दूसरों की हानि करता है। जब देश भर के लोग यह अन्याय करने लगते हैं तो बड़े-बड़े युद्ध होते हैं, सभी प्रकार के युद्धों का कारण नैतिकता के नियमों की अवहेलना है। एक पक्ष जब नैतिक नियमों की अवहेलना करता है तो दूसरा भी उन नियमों की अवहेलना करने लगता है और फिर युद्ध से ही मनुष्य को आत्म-नियन्त्रण की आवश्यकता की शिक्षा मिलती है। जो लोग न्याय की बुद्धि होने पर भी इच्छाओं

३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के वशीभूत होकर अन्याय का आचरण करते हैं वे मानसिक रोगों के शिकार बनते हैं। मनुष्य को सभी प्रकार के दण्ड संयम के अभाव के कारण मिलते हैं। यह अभाव इच्छा शक्ति की दुर्बलता का द्योतक है। जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति बली हो जाती है तो मनुष्य अपने ऊपर सयंम रखने में समर्थ होता है। इच्छा-शक्ति का बल बलवान इच्छा-शक्ति के व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित करने अथवा उसके अभिभावकत्व में रहने से ही आता है।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली एक मशीन के समान है। विज्ञान ने संसार में मशीनों की संख्या बढ़ाई है। मशीन एक साथ बहुत सा माल तैयार करने के लिये आवश्यक होती है। जिस प्रकार कपड़ा और बर्तन पैदा करने वाली बड़ी बड़ी फैक्टरियाँ वर्तमान युग में हैं इसी प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाने वाली फैक्टरियाँ आधुनिक काल में स्कूल कालेज और विद्यालियों के रूप में संसार में वर्तमान हैं। फैक्टरी का पदार्थ उपयोगिता की दृष्टि से अच्छा होता है परन्तु उसमें व्यक्तिगत कारीगरी का अभाव रहता है। ऐसा पदार्थ कलाविहीन रहता है। न उसमें कारीगर की कला का प्रदर्शन होता है और न उससे खरीदने वाले को हार्दिक सन्तोष होता है। फैक्टरी का पदार्थ निर्जीव होता है। जो मनुष्य सदा मशीनों में काम करते रहते हैं वे भी मशीन के समान निर्जीव बन जाते हैं। जिस प्रकार निर्जीव पदार्थों को तैयार करने वाली फैक्टरियाँ मनुष्य को हृदयहीन बना देती है, इसी प्रकार शिक्षालय भी उसमें काम करने वाले लोगों को हृदय हीन बना देते हैं। फिर फैक्टरियों से तो निर्जीव ही पदार्थ उत्पन्न हो सकते हैं इसी प्रकार जो लोग वर्तमान विद्यालयों में पढ़ते हैं वे बुद्धि से कुशल अवश्य होते हैं परन्तु उनमें भावों की शून्यता आ जाती है। वे मानव जीवन का मूल्यांकण रुपया पैसा से करने लगते हैं। सबसे अच्छी विद्या वह है जिससे अधिक से अधिक रुपए पैसे की प्राप्ति हो और सबसे अच्छा नागरिक वह है जो अधिक से अधिक रुपया स्वयं कमा सके और जिससे दूसरों को रुपया कमाने में अधिक से अधिक सहायता मिल सके!

प्रकृति ने मनुष्य को मशीन बन जाने के लिये नहीं बनाया है। जब मनुष्य अपने उन आध्यात्मिक गुणों को खो देता है जो मानवता के आधार स्तम्भ हैं तो प्रकृति ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देती है जिससे आपस में लड़कर मनुष्य अपना ही विनाश कर डाले। संसार में बढ़ते हुये पागलपन का और बड़े बड़े विस्फोटक युद्धों का प्रयोजन यही है। मशीन पहले मानवता का विनाश करती है पीछे वह मनुष्य का ही विनाश करने में उद्यत हो जाती है! मशीन के विषय में चिन्तन करने वाले लोगों में मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति के विषय में कोई कल्पना नहीं रहती। मनुष्य भी अन्य भौतिक पदार्थों के समान कई तत्वों के मिश्रण का परिणाम माना जाता है। इस असत्य को विनाश करने के लिये बड़े बड़े विस्फोटकों की आवश्यकता होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी आधुनिक शिक्षा प्रणाली आदर्शहीन है। उसके मूल्य जीवन यापन भर के हैं। पशु जीवन से मानव जीवन किस बात में पृथक है इस पर कोई विचार नहीं किया जाता, फिर उन मूल्यों की प्राप्ति की बात तो दूर रही जो मानव जीवन को सफल बनाते हैं। जीवन के सबसे ऊँचे मूल्यों का ज्ञान सत्संग से ही होता है। यह सत्संग व्यक्तिगत सम्पर्क की वस्तु है। सत्संग के द्वारा सत्संगियों का आपस में न केवल विचारों का वरन् भावों का भी आदान प्रदान होता है। इससे मनुष्य का चरित्र गठन होता है। अंग्रेजी में कहावत है कि जिस प्रकार रोग संक्रामक है इसी प्रकार आरोग्य भी संक्रामक है। एक व्यक्ति के जीवन के आदर्श दूसरे में उसके अनजाने ही अनायास चले जाते हैं। व्यक्तिगत सम्पर्क से ही मनुष्य की इच्छाशक्ति बलवान होती है और उसमें असाधारण त्याग करने अथवा कार्य करने का सामर्थ्य आता है।

प्राचीन शिक्षा प्रणालियों में धार्मिक सम्मेलन का विशेष स्थान रहता था। बालकों की धर्म शिक्षा विद्यालयों में होती थी और प्रौढ़ लोगों की शिक्षा सत्संग के द्वारा होती थी। इस प्रकार की शिक्षा से मनुष्य को न केवल जीवन के उच्चतम मूल्यों का ज्ञान होता था वरन् वह ऊँचे जीवन के लिये अभ्यास भी करता था। अब इस प्रकार के साधनों का अभाव है। अतएव केवल आर्थिक दृष्टि से उपयोगी बातें एक मनुष्य दूसरे से सीखता है, यह अर्थकरी विद्या अनेक प्रकार के असंतोष की और तज्जन्य मानसिक रोगों की जड़ है। जब तक शिक्षा की इस कमी को पूरा नहीं किया जायगा जो धार्मिक सम्मेलनों के अभाव से उत्पन्न हो गई है तब तक मनुष्य विनाशकारी कार्यों से रोका नहीं जा सकता। ईर्ष्या और द्वेष के कारण वह संगठित होकर विनाश के कार्यों में लगा ही रहेगा। जिस व्यक्ति का भीतरी मन असन्तुष्ट है वह बाहरी मन से सन्तुष्ट कैसे रह सकता है? आन्तरिक असन्तोष को मिटाना शिक्षा शास्त्रियों का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभाष्यकार पतञ्जलि के दृष्टिकोण का विश्लेषण

श्री रामशंकर भट्टाचार्य

वेदांग में व्याकरण प्रधान है, और व्याकरण वाङ्मय में पातञ्जल महाभाष्य का स्थान अतिशय महत्वपूर्ण है। स्वयं प्राचीन व्याख्याकार मानते थे कि पतञ्जलि का प्रामाण्य पाणिनि से अधिक है (यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्) क्योंकि वे सबसे अधिक प्रयोग दर्शी हैं।[1] इस निबन्ध में पतञ्जलि का दृष्टिकोण क्या था, उसका उदाहरण के साथ विवेचन किया जायगा।

पतञ्जलि के दृष्टिकोण को जानने के लिये उनके तत्सम्बन्धी विशिष्ट वचनों की आलोचना करनी होगी, अतः हम विभिन्न विषयों में उनके आलोचनार्थ वाक्यों का संकलन कर उन पर विचार करेंगे। हम उनके ही वाक्यों से उनके दृष्टिकोण का परिचय देंगे तथा किसी प्रकार की कपोलकल्पना का आश्रय नहीं लेंगे। तदनुसार उनके वचनों का निम्न भाग हो सकता है :—

(क) व्याकरणशास्त्र के विषय में उनका अभिमत;
(ख) आचार्य के प्रति श्रद्धा;
(ग) आचार्य की समालोचना;
(घ) विशाल दृष्टि का परिचय;
(ङ) अन्याय्य अंश का परिवर्जन;
(च) न्याय अंश का ग्रहण;
(छ) न्याय प्रयोग में कुशलता;
(ज) लौकिक चरित्र विज्ञता;
(झ) परिहास;
(ञ) दार्शनिक ज्ञान।

(क) व्याकरण शास्त्र के विषय में पतञ्जलि का अभिमत

व्याकरण की महत्ता के विषय में पतञ्जलि ने दो वाक्य कहे हैं—(१) "व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या। सो सौ छन्दःशास्त्रेषु अभिविनीतः उपलब्ध्या अधिगन्तुमुत्सहते" (१।१।३२) अर्थात् व्याकरण शास्त्र उत्तरा विद्या (पुरा कल्पे पूर्वा, अद्यत्वे तु उत्तरा—प्रदीप) है। प्रातिशाख्य तथा शिक्षाशास्त्र में जो शिक्षित है, वह व्युत्पत्ति से व्याकरण

(१) कैयट ने कहा है--'मुनित्रयात् च भाष्यकारः प्रमाणतरम् अधिकलक्ष्यदर्शित्वात्—(प्रदीप २।४।२६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चं.५ / ३४ ३२,०६६

शास्त्र का ज्ञान कर सकता है। इससे पतञ्जलि यह भी सूचित करना चाहते हैं कि व्याकरण शास्त्र के पूर्णाङ्ग ज्ञान प्रतिशाख्यादि ज्ञान के सापेक्ष हैं।

आचार्य यास्क ने निरुक्त के साथ भी शब्दशास्त्र का ऐसा सम्बन्ध दिखाया है—"तदिदं शस्त्रं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यं स्वार्थसाधकं च' (निरुक्त १ अ०)। अन्यत्र पतञ्जलि ने स्पष्टतः कहा है कि पदपाठ भी व्याकरण के अधीन है—"न च लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारै र्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्" (८।२।१६) अर्थात् पदकार व्याकरण शास्त्र का अनुवर्ती अवश्यमेव होगा।

व्याकरण शास्त्र और वेदांग के संबन्ध में पतञ्जलि ने कहा है—"प्रधानं च षट् सु अङ्गेषु व्याकरणम्. प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति" (पस्पशा), अर्थात् छै अंगों में व्याकरण प्रधान है और उसमें परिश्रम करने से ही वेदार्थज्ञान रूप महा फल प्राप्त होगा। आचार्य भर्तृहरि ने भी इसी दृष्टि का अवलम्बन कर कहा—'प्रथमं छन्दसामङ्ग-माहु र्व्याकरणं बुधाः' (वाक्यपदीय.......)। व्याकरण की इसी महिमा के कारण ही व्याकरण को वेदानां वेदः (छान्दोग्य उप०) कहा जाता है।

वेद से व्याकरण का अन्य भी सम्बन्ध है, जैसा पतञ्जलि ने कहा है—'सर्ववेद पारिषदं हीदं शास्त्रम्' (२।१।५७) अर्थात् यह व्याकरण सर्ववेद साधारण है (परिषद इदं पारिषदं साधारणम्—प्रदीप)। कैयट ने यहाँ एक अवधातव्य तथ्य का उल्लेख किया है, यथा—"सर्ववेदाङ्गत्वादस्य सर्ववेदसाधारणं लक्षणं बहुलादिग्रहणोपेतं क्रियते। आनु-षङ्गिको लौकिक शब्द संस्कारः इति वेदग्रहणं कृतम्'। कैयट ने लौकिक शब्द संस्कार को आनुषङ्गिक कहा है, इसका कारण चिन्त्य है।

पतञ्जलि ने यह भी कहा है कि व्याकरण शब्दों का निष्पादक नहीं है, प्रत्युत लोकसिद्ध शब्दों के किसी निमित्त का आश्रय लेकर अन्वाख्यान करता है, दूसरे शब्दों में व्याकरण शब्द साधुत्व का ज्ञापक-मात्र है। शब्दों का अर्थ दिखाना भी व्याकरण का विषय नहीं है, वह उस अर्थ में अभिनिविष्ट शब्दों का साधुत्व दिखाकर (बनाकर नहीं) निवृत्त होता है।

(ख) आचार्य के प्रति श्रद्धा

पाणिनि के प्रति आचार्य पतञ्जलि की महती श्रद्धा थी, और इसी श्रद्धा से विग-लित होकर ही उन्होंने बारबार कहा है—'भगवतः पाणिनेः सिद्धम्' 'आह हि भगवान' इत्यादि।

आचार्य पाणिनि ने किस अवस्था में अष्टाध्यायी की रचना की थी, उसका एक अति मनोरम चित्र पतञ्जलि ने खींचा है—'पाणिनि ने कुशहस्त होकर पूर्वमुख में बैठकर पवित्रकाल में सूत्रों की रचना की है। उन सूत्रों में एक वर्ण भी निरर्थक नहीं है'। यह वाक्य पतञ्जलि की व्याख्या का हृदयस्वरूप है,—ऐसा जानना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनि के प्रति पतञ्जलि इस प्रकार के अनेक वाक्य लिखते हैं यथा (क) मांगलिक: आचार्यः, (ख) आचार्यः सुहृद्भूत्वा अन्वाचष्टे, अर्थात् पाणिनि सुहृद् हैं, उनके ग्रन्थ के अध्ययन से मङ्गल होता है। हमारे अध्येता बुद्धियुक्त हों, इसलिये पाणिनि ने ग्रन्थारम्भ में मङ्गल किया है, ऐसा भी पतञ्जलि ने कहा है।

पाणिनि के प्रति इतनी श्रद्धा के कारण ही पतञ्जलि पाणिनि प्रयुक्तशब्दों को निष्प्रयोजन समझ कर प्रत्याख्यान करने में सहसा उद्यत नहीं होते थे, जैसा उन्होंने कहा है 'सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्ति पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्' (६।१।७७), अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि से विचार करने से पता चलता है कि पाणिनीयशब्दों में अनर्थक अंश कुछ भी नहीं है, और जहाँ जहाँ पतञ्जलि ने प्रत्याख्यान किया भी है, वहाँ वहाँ पक्षान्तर को ग्रहण कर प्रत्याख्यान किया है, न कि पाणिनि की दृष्टि को भ्रान्त बताया है। कितने ही स्थल ऐसे हैं, जहाँ उन्होंने वार्त्तिकोक्त दोषों का उद्धार किया है, और दिखाया है कि पाणिनि निर्दोष हैं।

पाणिनि के प्रति पतञ्जलि कितने श्रद्धालु थे, इसका पता चलता है, जब हम देखते हैं कि समालोचना प्रसङ्ग में उन्होंने सहसा कहा है—'नासूया कर्तव्या यत्रानुगमः क्रियते' (५।१।५६) अर्थात् अननुगम से दोष होता है। अनन्तता के कारण सब शब्दों का अनुगम करना अशक्य है। अनुगम आचार्य का दोष है—ऐसा नहीं है (देखो प्रदीप)

पाणिनि की अन्य एक विशिष्टता का भी उल्लेख पतञ्जलि ने निम्न शब्दों में किया है—'एवमपि चतस्मिन् समि किंचिद् आचार्यः सुकरतरकं चैकशेषारम्भं मन्यते' (१।२।६४), अर्थात् पाणिनि कभी कभी किसी विषय का विशिष्ट रूप से पाठ करना ही यथार्थ समझते थें, यद्यपि अन्यथा चरण करने से लाभ ही होगा। इन स्थलों के लिये पाणिनि की स्वकीय दृष्टि ही कारण है, अर्थात् उनकी उपज्ञा से वह जिसको ठीक समझते थे, उसी को वह अन्य अनुशासन का त्याग कर भी करते थे, जो प्राक् पाणिनीय आचार्यों के वचनों की तुलना उनके वचनों से करने पर प्रतीत होगा।

इस प्रकार अन्य एक अभिमत भी भाष्यकार का मिलता है। कभी कभी यह देखा जाता है कि एक विषय के सूत्रों में पाणिनि ने भिन्न भिन्न अध्याय या पाद में पढ़े हैं। इस प्रकार प्रक्रमभंग दोष का कारण क्या है—इसके लिये पतञ्जलि ने कहा है—'यदेकं वाक्यं सत् नानादे शस्थं करोति, अन्यदपि किञ्चित् संग्रहीष्यामि इति' (४।१।१) अर्थात् जब आचार्य ने कहीं पर भी इस प्रकार प्रक्रमभंग दोष किया है, वहाँ उसका कुछ न कुछ तात्पर्य है, ऐसा जानना चाहिए। टीकाकारों ने उदाहरण देकर इस मत को सुप्रमाणित किया है। यह निश्चय है कभी कभी पतञ्जलि ने सूत्रकार के प्रति असाधारण भक्ति दिखाई है, जैसा कैयट ने उदाहरण के साथ दिखाया है—'भाष्यकारेण भक्त्यतिशयः सूत्रकारं प्रति प्रदर्शितः, नतुइयं स्पष्टा गतिः (६।१।१७४), अर्थात् पतञ्जलि येन केन रुपेण पाणिनि के प्रति श्रद्धा भाव दिखाते ही हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पतञ्जलि अपनी मनीषा से कुछ कहने की अपेक्षा आचार्य वाक्यों से मत के प्रमाणीकरण को युक्ततर समझते थे, जैसा उन्होंने लिंग के विषय में कहा है—'न चैतन्मन्तव्यं स्वमनीषिकया एतदुच्यते, पठिष्यति ह्याचार्यः लिंगमशिष्यम् लोकाश्रयत्वाल लिङ्गस्य' (४।१।१)

(ग) आचार्य की समालोचना

यद्यपि आचार्य पाणिनि के प्रति पतञ्जलि की अटूट श्रद्धा थी, पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने पाणिनि की समालोचना नहीं की है। विचार प्रसंग में उन्होंने कहा है 'प्रमादकृतमतेदाचार्यस्य' (४।२।७० इत्यादि स्थलों में) पतञ्जलि के इस वाक्य का तात्पर्य क्या हो सकता है यह चिन्तनीय है।*

सूत्र रचना में आचार्यों की दो दुर्बलता का उल्लेख पतञ्जलि ने किया है—'न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति' तथा 'भवति वै किञ्चद् आचार्याः क्रियमाणमपि चोदयन्ति' (६।१।६७) पहले का तात्पर्य यह है कि सूत्र की रचना करने के बाद उसमें संशोधन या परिवर्तन नहीं करते हैं, अर्थात् सूत्र इतना प्रतिष्णात होता है कि वह निर्दोष ही होता है। दूसरे वाक्य का अर्थ है 'आचार्य किया हुआ पदार्थ को कभी कभी पुनः करते हैं।' इसका कारण यह हो सकता है कि एक दृष्टि से जिसका प्रतिपादन किया गया है, दूसरी दृष्टि से पुनः उसका प्रतिपादन करना, जैसा भाष्यकार ने स्वयं कहा है—'दिर्बद्धं' सुबद्धं भवति (६।१।२२३) अथवा यह भी हो सकता है कि स्पष्टार्थता के लिये क्रियमाण अर्थ का पुनः कथन करते हैं। जो कुछ हो, यह कोई न्यायदोष नहीं है, क्योंकि इससे विपर्यस्त बोध नहीं होता है।

इसी प्रयोजनात्मक दृष्टि का अवलम्बन कर पतञ्जलि ने पाणिनिसूत्रस्थ व्यर्थप्राय शब्दों के विषय में कई बार कहा है 'तदतेद्वा-वचनं तिष्ठतु तावत् सांन्यासिकम् (लिटः कानज वा ३।२।१०७ सूत्र पर) या 'तदतेद् धातु ग्रहण तिष्ठतु तावत् सांन्यासिकम्' (६।१।८) सान्यसिक शब्द का क्या अर्थ हो सकता है—आलोचनीय है ३।२।१०७ की व्याख्या में कैयट ने कहा है कि सांन्यासिक शब्द से यह विज्ञापित होता है कि उत्तरवर्ती सूत्रों में इस पद की आवश्यकता है, जिससे सान्यासिक = इसमें सूत्र में त्याग करने योग्य—ऐसा होता है। पतञ्जलि की दृष्टि में यह व्याख्या सङ्गत है, क्योंकि आरम्भ में ही उन्होंने प्रतिज्ञा की है कि अष्टाध्यायी में कोई भी पद निरर्थक नहीं है। वस्तुतः ३।२।१०७ सूत्रीय 'वा'-पद निरर्थक नहीं है—ऐसा काशिकाकार ने स्पष्टतः कहा है। ६।१।८ सूत्र के 'सान्यासिक'-पद की व्याख्या में भी सूत्रीयपद की सार्थकता दूसरी दृष्टि में दिखायी गयी है, जिससे यह ज्ञापित होता है कि यदि सूत्र का कोई पद किसी दृष्टि में व्यर्थ प्रतीत हो, तो समझना चाहिए

*प्रमादकृत का कैयटानुसारी तात्पर्य यह है कि जब आचार्य शिष्यों में सुखबोध के लिये लाघव प्रति अवहित नहीं होते हैं, तब वह प्रमादकृत होता है (प्रदीप ४।२।७०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि अन्य दृष्टि में वह सार्थक है, और सांन्यासिक शब्द का यही तात्पर्य है, जैसा टिप्पणीकार श्री रघुनाथजी ने कहा—'प्रस्तुतस्तु संन्यसनं संस्थापनं तदेवास्य प्रयोजनं, तदतिरिक्त पयोजनाभाव इतितदाशयः' (३।२।१०७)

भाष्यकार ने कुछ स्थलों पर पाणिनीय मत का उल्लंघन किया है—ऐसा प्रतीत होता है। पाणिनि ने मघवत् शब्द को लौकिक कहा है, पर भाष्यकार ने उसको वैदिक कहा है। सम्भव हो कि पतञ्जलि के समय लोकभाषा से उसका प्रयोग उच्छिन्न हो गया था—इसीलिये पतञ्जलि ने ऐसा कहा है। इसका और अन्य कारण क्या हो सकता है, यह चिन्तनीय है।

पतञ्जलि ने कहीं कहीं प्राचीन आचार्यों के सूत्रों से पाणिनीय सूत्रों को तुलना कर पाणिनीय सूत्र को अधिक निर्दोष दिखाया है। तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारेच (२।१।५१) सूत्र भाष्य में उन्होंने इस विषय के काशकृत्स्नीय सूत्र (प्रत्ययोत्तरपदयोश्च) को न्यायदुष्ट बताया है। इस प्रकार का विचार चौ (६।३।१३८) सूत्र भाष्य में भी है। ४।१ ९८ भाष्य में तो उन्हों ने प्राचीन व्याकरणमत का उपन्यासकर पाणिनिमत को न्याय बताया है (किमत्र न्याय्यम्? ञवचनमेव न्याय्यम)। मेरे अंग्रेजी निबन्ध Paninian and prepaninian process' में इस विषय का विस्तृत विचार है।

(घ) विशाल दृष्टि का परिचय

प्रयोगक्षेत्र में पतञ्जलि की दृष्टि विशाल और उदार थी। वे जानते थे कि प्रयोग का क्षेत्र अतिविपुल है, और इसीलिये प्रयोग की अप्रयुक्तता या असाधुता का निर्णय सहसा नहीं हो सकता, ऐसा उन्होंने स्पष्टतः कहा है।* कैयट ने कहा है कि पाणिनि और कात्यायन से पतञ्जलि का प्रामाण्य अधिक है, क्योंकि वे अधिक लक्ष्य दर्शी हैं (प्रदीप २।४।२६)।

जैसे पतञ्जलि ने यह कहा है कि 'अमुक शब्द का प्रयोग नहीं है,' ऐसा कहना कठिन है, विपरीतपक्ष में उन्होंने कुछ प्रयोगों के विषय में यह भी कहा है—'नैषोऽस्ति प्रयोगः' (६।३।१ आदि स्थलों में)। इन दोनों वाक्यों का समन्वयात्मक अर्थ यह होगा कि व्याकरण का सूत्र प्राप्त होने से ही शब्द का प्रयोग सिद्ध नहीं होगा, जिसका लोक में प्रयोग है, वही प्रयुक्त होगा। वस्तुतः पतञ्जलि ने लक्ष्य के अनुसार सूत्रों की व्याख्या की है, जैसा आगे प्रमाणित होगा।

प्रयोग के विषय में पतञ्जलि के दो मुख्य न्याय हैं। (१) यथालक्षणमप्रयुक्ते (६।१।६८ आदि) तथा 'अनभिधान' (४।३।१ आदि)। पहले का पतञ्जलिसंमत अर्थ है—'अप्रयुक्त शब्दों की सिद्धि के लिये व्याकरण का सूत्र प्रवर्तित नहीं होता, और इस प्रकार असिद्ध शब्द न बनाना ही व्याकरण सूत्र का स्वभाव है'। दूसरे का अर्थ है कि यदि

*पस्पशाह्निक में 'अस्त्यप्रयुक्तः' वार्त्तिक व्याख्यान द्रष्टव्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिधान (=शिष्टों में अर्थबोध होना) हो तभी सूत्रों से शब्द को बनाया जा सकता है, अन्यथा नहीं, अर्थात् यह नहीं तर्क किया जा सकता है कि व्याकरण के अमुक सूत्र से जितने शब्द की सिद्धि होगी, वे सब अवश्यंभावी रूप से प्रयोग के योग्य भी होंगे। एक उदाहरण लीजिये—पाणिनि के 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' (४।४।२) सूत्र से 'कुद्दालेन खनति' इस विग्रह से 'कौद्दालिक' ऐसा प्रयोग उपपन्न होता है (काशिका) पर 'अङ्गुल्या खनति' इस विग्रह में उक्त सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसका कारण क्या है? वैया-करण कहता है कि ऐसे प्रयोगों का अभिधान अर्थात् अर्थबोधनशक्ति नहीं है, अतः ऐसे प्रयोग नहीं होंगे। प्रयोग और व्याकरण के इस सम्बन्ध के विषय में हरिदीक्षित ने कहा—'अविद्यमानायाः शक्तेरेकशेषशास्त्र सहस्रेणापि उपपादयितुमशक्यतया बोधानुपपत्तिरेव स्यात्' (शब्दरत्न १।२।६५)।

विशालदृष्टि के प्रसंग में अनेक अवान्तर विषय आलोच्य होते हैं। हम एक-एक कर उन सबों की संक्षिप्त आलोचना करने जा रहे हैं :—

कुछ विशिष्ट पदार्थों का पतञ्जलि ने जो लक्षण दिया है, उससे उनकी गम्भीर दृष्टि का पता चलता है। हम यहाँ केवल वाक्यों का उदाहरण मात्र देंगे; उन सबों की युक्तता की आलोचना का यह स्थान नहीं है।

संस्कृत भाषा के लिये प्रमाणभूत शिष्ट पुरुषों का लक्षण भाष्य में निम्नप्रकार है—'एतस्मिन् आर्यावर्ते आर्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपाः अगृह्य मान कारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगताः तत्र भवन्तः शिष्टाः' (६।३।१०९)।

इसी प्रसंग में आर्यावर्त का जो लक्षण दिया गया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से परमोपादेय है—'प्राग् आदर्शात् प्रत्यक कालवनात् दक्षिणेन हिमवन्तम् उत्तरेण पारि-यात्रम्' (६।३।१०९)। आदर्श आदि-पर्वत् विशेष हैं—ऐसा कैयट ने कहा है।

पाणिनि ने अनिरवसित शूद्रों का उल्लेख किया है (२।४।१०)। पतञ्जलि ने इन शूद्रों का जो मार्मिक लक्षणात्मक विवरण दिया है, वह आचार्य की गम्भीर सामाजिक दृष्टि का ज्ञापक है।

शब्द प्रयोग सम्बन्धी कुछ ऐसी विलक्षणताओं का उल्लेख आचार्य ने किया है, जिनसे उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का ज्ञान हो जाता है। दाक्षिणात्य के लोग तद्धितान्त शब्द के प्रयोग में अधिक रुचि रखते थे (प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या—पस्पशाह्निक)। तद्धितान्त प्रयोग का एक असाधारण वैशिष्ट्य का परिचय आचार्य ने दिया है—'विचित्रा स्तद्धित-वृत्तयः' (६।१।९९)। लौकिक व्यवहार से तद्धित प्रयोग का अतिनिकट सम्बन्ध ही इस प्रकार उक्ति का मूल है—ऐसा जानना चाहिये।

पतञ्जलि की दृष्टि में सूत्रार्थ के लिये उदाहरण एक असाधारण सहायक है। उदाहरण के अनुसार सूत्रार्थ करना आचार्य का स्वभाव-विशेष है—यह कहना अत्युक्ति

४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं होगा। कैयट ने कहा है---'एवं तर्हि स्पष्टोदाहरण सद्भावात् भाष्यकारेण नैतत् सुष्ठु निरूपितम्' (६।१।१६२), जो उक्त तथ्य का सुस्पष्ट ज्ञापक है।

पतञ्जलि ने प्रश्नों के जो उत्तर दिये हैं, उनमें एक ज्ञातव्य रहस्य है। कुछ ऐसे समाधान हैं, जो अन्तिम निर्णय नहीं हैं, जिसे 'एकदेशी भाष्य' कहा जाता है। इसके साथ यह भी जानना चाहिये कि पतञ्जलि के कुछ उत्तर शंकाकारी के प्रश्न के अनुसारी हैं, और वे यथार्थ उत्तर नहीं है। ४।१।११२ सूत्रभाष्य में इस प्रकार के उत्तर का एक उदाहरण है। वस्तुतः ऐसे निर्णयों को निर्णय भी नहीं कहा जा सकता है (एवं तर्हि परिहारान्तरामि धानान् न विचारितमतेद् भाष्यकारेण---प्रदीप)।

(ङ) अन्याय्य अन्स का परिवर्जन

व्याकरण शास्त्र के प्रचलित सिद्धान्तों में से पतञ्जलि ने कुछ मतों का परित्याग किया है, और परिवर्जन के लिये हेतु भी दिये हैं। इस प्रकार परिवर्जनों से जो सिद्धान्त निर्गलित होता है, उसे सोदाहरण दिखाया जा रहा है। प्रसंग में यह जान लेना चाहिये कि पतञ्जलि का मौलिक दर्शन था---'न हि अनिष्टार्था शास्त्र प्रवृत्तिः भवितुमर्हति' (६।१।२) अर्थात् व्याकरण से कदापि अनिष्ट प्रयोग नहीं बन सकता। सुतरां सूत्र या मतों का ऐसा अर्थ करना होगा जिससे अनिष्ट प्रयोग न बनता हो।

हंस शब्द का निर्वचन इसका एक उदाहरण स्थल है। कोई वादी कहता था—'हम्मतेः हंसः' (६।१।१३) अर्थात् 'हम्म' धातु से हंस शब्द बनता है। इस पर पतञ्जलि ने कहा है—'कः पुनराह हम्मतेर्हंस इति ? किंतर्हि, हन्तेर्हंसः, हन्ति अध्वानम्' (तत्रैव)। पतञ्जलि ने सयुक्तिक अपने पक्ष का समर्थन किया है, यद्यपि यह नहीं कहा कि 'हम्म' धातु से 'हंस' क्यों नहीं होगा। परिवर्जन का हेतु आचार्य ने क्यों नहीं दिया—यह चिन्तनीय है। इस प्रकार निर्णय नहीं करने का अन्य उदाहरण ६।१।३६ भाष्य में भी है।

कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ व्याख्याकारों ने यह प्रमाणित किया है कि भाष्य के अनुसार अमुक सूत्र अमुक शब्द का पाठ वर्जनीय है, यद्यपि पतञ्जलि ने कण्ठरव से ऐसा नहीं कहा ('एतद्भाष्य प्रामाण्यात् च तत्र सूत्रे कक्षीवत्शब्द पाठोऽनार्ष इत्यन्ये—उद्द्योत ६।१।३७)।

सूत्र सम्बन्धी परिवर्जन का एक उदाहरण दिया जा रहा है। ई ३ चाक्रवर्मणस्य (६।१।१३०) सूत्रभाष्य में पतञ्जलि ने कहा---'ईकारग्रहणेन नार्थः; अविशेषेण चाक्रवर्मणस्य आचार्यस्य अप्लुतवद् भवतीत्येव'। यहाँ यह चिन्तनीय है कि क्यों पाणिनि ने 'ई३' शब्द का ग्रहण किया कि वह चाक्रवर्मण का मत है, और पतञ्जलि ने कहा कि चाक्रवर्मण के मत में अविशेष रूप से अप्लुतवद् भाव होता है। भावी खोज इस रहस्य का उद्घाटन करेगा।

पतञ्जलि से परिवर्जित सूत्रों का रहस्य गम्भीर रूप से मननीय है। यह सोचना मूलतः गलत होगा कि जिस सूत्र का प्रत्याख्यान पतञ्जलि ने किया है, वह वस्तुतः अन्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, सुतरां प्रत्याख्येय है। इसका एक अवधातव्य उदाहरण उद्द्योत में वर्णित है— 'इदं भाष्यं न सूत्र प्रत्याख्यानपरम् किन्तु वृत्त्याद्युक्तोदाहरणेषु अन्यथासिद्धिप्रतिपादन परम्' (६।४।१६३)। अतएव प्रत्येक प्रत्याख्यान स्थल के लिये यह सोचना होगा कि किस कारण से यह प्रत्याख्यान किया गया है। वस्तुतः पतञ्जलि का एक भी प्रत्याख्यान इसलिये नहीं है कि पाणिनि का सूत्र असंगत है, पर अन्य दृष्टि से उस सूत्र का प्रत्याख्यान हो सकता है—इतना ही पतञ्जलि का तात्पर्य है। वार्त्तिकोक्त दोषों से सूत्र का उद्धार करना पतञ्जलि का मुख्य कार्य जान पड़ता है, जैसा नागेश भट्ट ने दिखाया है—'एवं च वार्त्तिकेन सूत्र-प्रत्याख्यानं न युक्तम् इति भाष्याशय उचितः' (उद्द्योत ४।१।१४)। वस्तुतः पतञ्जलि वार्त्तिक की अपेक्षा सूत्र के प्रति अधिक आस्था रखते थे—कई उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होती है (इदं तर्हि प्रयोजन मित्यादितु भाष्यकृतः सूत्र प्रयोजन प्रदर्शनन वार्त्तिकप्रत्याख्यान मित्याहु—उद्द्योत ४।१।१४)।

अन्याय अंश के परिवर्जन में हम उन उन अंशों को भी ले सकते हैं, जो संशोधनात्मक हैं। जैसे पाणिनि का सूत्र है—'उप सर्गादनोत् परः (६।४।२६)। भाष्यकार ने कहा है कि यह सूत्र 'उपसर्गाद् बहुलम्' होना चाहिये। 'सामान्यवच्चनं विभाषितं विशेष वचने' (८।१।६०) सूत्र में भाष्यकार ने 'बहुवचन' शब्द से सूत्र का पूरण किया है। अनेक स्थलों पर ऐसे संशोधनात्मक वाक्य हैं। ऐसे स्थलों का विशेष विचार पृथक रूप में किया जायगा।

कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनको भाष्य प्रामाण्य से व्याख्याकारियों ने असाधु कहे हैं, यद्यपि कोष में उनका प्रयोग है। यथा ३।२।६९ सूत्र भाष्य प्रामाराय से 'क्रव्याद' शब्द असाधु कहा गया है (उद्द्योत)। इसी प्रकार भाष्य स्वारस्य से धातुपाठ में भी टीकाकारों ने संशोधन किया है, जैसा उद्द्योतकार ने कहा है—'केचित्तु एतत्सूत्रस्थ भाष्यप्राभारायात् × × × हेड वेष्टने इति धातोः वटादो असांप्रदायिकः पाठ इत्याहुः (१।२।२९)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफल-परीक्षा

वी० एस० माथुर

'प्रचलित परीक्षा प्रणाली' सदा से ही सन्देहास्पद विषय रहा है। इसका सम्बन्ध अधिकतर अनुचित अभ्यासों, यथा प्रश्न-पत्र का पता लगा लेने, परीक्षकों तथा विश्व-विद्यालय के सत्ताधारियों तक पहुँच होने से लगाया जाता है; यह कारण भय का संचार करने के लिये पर्याप्त थे अब तो परीक्षार्थियों ने परीक्षकों तथा निरीक्षकों के ऊपर बल-प्रयोग भी प्रारम्भ कर दिया है। हाल ही में अलीगढ़ से सूचना मिली थी कि एक डिग्री-कालेज के प्रिंसिपल की केवल इसी कारण हत्या कर दी गई थी कि उन्होंने एक परीक्षार्थी को परीक्षा देते समय नकल करते हुए पकड़ लिया था। यदि इस दिशा में शीघ्र ही कोई कठोर कार्यवाही नहीं की गई, तो मुझे भय है कि कोई भी व्यक्ति परीक्षक अथवा परीक्षा के समय सुपरिंटेन्डेन्ट या निरीक्षक बनने का साहस न करेगा, और परीक्षायें पुलिस के कठोर निरीक्षण में लेनी पड़ेंगीं।

परन्तु मैं विद्यार्थियों में इस बढ़ती हुई विरोध की भावना का उत्तरदायी केवल विद्यार्थियों को ही नहीं मानता। हमारी सामाजिक तथा शैक्षणिक व्यवस्था भी समय के साथ चलने में पीछे रह गई है। आज का युग प्रतियोगिता का युग है—इसमें केवल विभिन्न राष्ट्रों में ही नहीं, वरन् व्यक्तियों में भी प्रतियोगिता की तीव्र भावना है। आर्थिक तथा बेकारी की कठोर समस्याएँ इस युग की प्रधान अंग हैं, अनेक व्यवसायों के लिये डिग्री या डिप्लोमा का होना आवश्यक है, यही कारण है कि विद्यार्थियों का एक मात्र ध्येय केवल परीक्षा पास कर लेना है। सहायक-पुस्तकें तथा 'कोचिंग-कालेजों' की भरमार सी हो रही है, और वास्तव में शिक्षा जिसको 'पूर्ण-जीवन के लिये तैयारी' माना जाता था, अब कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। उचित अथवा अनुचित रीति से पास होने मात्र के मार्क्स मिलना प्रत्येक परीक्षार्थी आवश्यक समझता है। यही कारण है कि फेल होने पर अथवा परीक्षा में किसी कारणवश पकड़े जाने पर विद्यार्थी व्यग्र हो उठता है, उसे अपना जीवन नष्ट हुआ दिखाई देता है, और वह उचित अनुचित, अच्छा बुरा सब कुछ भूल जाता है, परिणाम यह होता है कि वह या तो आत्म-हत्या कर लेता है, अथवा परीक्षकों आदि की हत्या कर डालता है।

अस्तु हमें शिक्षा की प्रत्येक समस्या पर, विशेष कर परीक्षा के विषय पर पुनः विचार करना तथा उसका अध्ययन करना चाहिये। शिक्षा का उद्देश्य क्या है? तथा वर्तमान परीक्षा-प्रणाली उस उद्देश्य की पूर्ति में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान परीक्षा, यह सत्य है, कि विद्यार्थी की स्मरण-शक्ति की परिचायिका अवश्य है। दो वर्ष के समग्र कार्य की परीक्षा केवल पाँच या छः प्रश्नों पर अवलम्बित होती है, यद्यपि विद्यार्थी इन प्रश्नों को किसी प्रकार ठीक कर दे, तो कोरा होने पर भी वह डिग्री प्राप्त करने का अधिकारी मान लिया जाता है। इसके विपरीत जो विद्यार्थी सारे वर्ष ठीक तरह काम करता रहा हो, परन्तु किसी कारणवश परीक्षा-प्रश्नों को ठीक न कर सके, तो उसके अन्य गुणों व शक्तियों की अवहेलना करके उसे असफल घोषित कर दिया जाता है।

परीक्षा-प्रश्नों पर अंक देना भी पूर्णतः वैयक्तिक विषय है, जो अधिकतर परीक्षक की मनोदशा पर अवलम्बित होता है। प्रयोगों व अनुभव से प्रमाणित होता है कि एक ही उत्तर-पत्र को यदि दो परीक्षक पृथक-पृथक देखें तो उनके अंक देने में लगभग ५० प्रतिशत तक का अन्तर हो जाता है। यही नहीं एक ही परीक्षक एक ही पत्र को यदि पुनः किसी अन्य अवसर पर देखे तो उसी पर भिन्न अंक देता है, ऐसा भी कई बार देखा जा चुका है। परीक्षा की यह दशा अत्यन्त असन्तोष जनक है। आधुनिक 'ओब्जेक्टिव टेस्ट्स' परीक्षा की इस वैयक्तिकता को तो कुछ अंशों में दूर कर सकते हैं, परन्तु अन्य समस्याएँ सम्मुख रह जाती हैं।

परीक्षा की इस समस्या को सुलझाने के लिए कुछ ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे वार्षिक परीक्षा को ही सबसे अधिक महत्व न दिया जाये। यदि यह सम्भव हो जाये तो परीक्षार्थियों को परीक्षकों से मित्रता गाँठने, विश्व विद्यालय के अधिकारियों को रिश्वतें देने अथवा अन्य कोई अनुचित कार्य करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ सकती। यह समस्या अत्यन्त जटिल है, प्रयोगों तथा अनुभवों से ही इसको सुलझाया जा सकता है। नीचे मैं अपने कतिपय तुच्छ सुझाव रखता हूँः—

१—विद्यार्थियों की उन्नति की परीक्षा करने के लिये मासिक 'आश्चर्य-परीक्षण' अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकते हैं। वार्षिक परीक्षाओं के कुल अंकों में से लगभग बीस प्रतिशत अंक इन मासिक परीक्षणों को मिलने चाहिये।

२—लगभग २५ प्रतिशत अंक कार्यक्रम के अतिरिक्त कार्य, तथा व्यायाम-शिक्षा, वाद-विवाद, पुस्तकालय आदि में पठन पाठन, तथा आचरण व व्यवहार आदि, के लिये निश्चित होने चाहिये। इसके लिये इन विषयों से सम्बन्धित अध्यापक ही उत्तरदायी होगें।

३—वार्षिक परीक्षा के सम्बन्ध में कुछ सुझाव (वार्षिक परीक्षा के अंक कुल अंकों का ५०% भाग होना चाहिये।)

(अ) वार्षिक परीक्षा के लिये परीक्षा से पूर्व ही कोई समय-विभाग परीक्षार्थियों को नहीं बताना चाहिये, उन्हें केवल इतना ही बताना चाहिये कि परीक्षा इस तिथि से प्रारम्भ होगी तथा अमुक तिथि पर समाप्त होगी। प्रश्न-पत्र का विषय उसकी परीक्षा से केवल २४ घंटे पूर्व बताना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(आ) प्रश्न-पत्र बनाते समय वास्तव में परीक्षक को उस विषय पर कोई भी शीर्षक लेकर प्रश्न बनाने चाहिये, जिससे उस विषय में विद्यार्थी के वास्तविक ज्ञान का परिचय मिल सके। इसका उद्देश्य यह है कि दो वर्ष के समय में विद्यार्थी यथा-शक्ति उस समय उस विषय का अधिक ज्ञान प्राप्त करके, उसमें निपुणता प्राप्त कर सके। अब तो हम जानते ही हैं, कि केवल परीक्षा के निकट आने पर ही विद्यार्थी अपनी पढ़ाई प्रारम्भ करते हैं और किंचित निर्वाचित अध्ययन ही कर पाते हैं, यही कारण है कि सस्ते लेखक तथा प्रकाशकों को बहुत लाभ होता है, और दुकानों पर सस्ती सहायक पुस्तकों का ढेर दृष्टि-गोचर होता है। इन सहायक पुस्तकों में कतिपय महत्त्वपूर्ण निर्वाचित विषयों के निर्वाचित प्रश्नोत्तर प्रकाशित किये जाते हैं, परीक्षा से कुछ दिन पूर्व छात्र इन उत्तरों को कंठाग्र कर लेते हैं और परीक्षा में सफल भी हो जाते हैं। अतः सर्व प्रथम इस प्रकार की सस्ती सहायक पुस्तकों का प्रकाशन बन्द कर देना चाहिये।

परीक्षा में बैठने से पूर्व प्रत्येक विद्यार्थी को कम से कम पाठ्य-क्रम के तीन चौथाई भाग का विधिपूर्वक अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिये; सम्भवतः इस कार्य की सिद्धि के लिये यह उचित हो कि परीक्षा प्रारम्भ होने से एक मास पूर्व, प्रत्येक प्रश्न-पत्र के विषय में लगभग पन्द्रह प्रश्न, सर्वसाधारण की सूचनार्थ प्रकाशित कर दिये जायें। इस प्रकार विद्यार्थी कम से कम प्रत्येक विषय के उन पन्द्रह प्रश्नों को अवश्य ही भलीभाँति पढ़ेंगे, और हमारी शिक्षा का कुछ उद्देश्य पूर्ण हो जायेगा।

मैं यह भी सुझाव रखता हूँ कि परीक्षा के हॉल में प्रत्येक विषय की चुनी चुनी 'रेफरेन्स बुक्स' होनी चाहिये, शब्द-कोष भी वहीं रखे जा सकते हैं, जिससे विद्यार्थी उनसे लाभ उठा सकें। लॉ (Law) की परीक्षाओं में ऐसा अब भी होता है। भूगोल आदि विषयों में प्रायोगिक तथा बाह्य-कार्य भी परीक्षा का एक प्रमुख अंग होना चाहिये। सातवीं श्रेणी के विद्यार्थी से 'भारत के प्राकृतिक विभाग' के सम्बन्ध में मौखिक प्रश्न करके उसकी स्मरण-शक्ति की परीक्षा लेने की अपेक्षा भारत का रिलीफ-मान चित्र पढ़ाना अधिक श्रेयस्कर होगा।

४—उत्तर-पत्र पर अंक देने के लिये मनोवैज्ञानिक आधार होना चाहिये परीक्षक अथवा प्रधान-परीक्षक की मनोदशा नहीं। स्वच्छता, हस्त-लेखन, भाषा, मौलिकता तथा किसी विशेष विषय के विस्तार के लिये विद्यार्थी को श्रेय देना चाहिये।

साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि स्वयं परीक्षक अपने आलस्यवश किसी प्रकार का अनुचित कार्य न करें। अतएव परीक्षकों की एक स्थानीय समिति नियुक्त कर दी जाये तो उचित रहेगा, इस समिति के सदस्य शिक्षक स्वयं होगें।

उपर्युक्त योजना को भलीभाँति समझने के लिये मेरे शिक्षा दर्शन को समझ लेना भी आवश्यक है। मेरा विश्वास है कि शिक्षा-प्रक्रिया की परिगति परीक्षा ही नहीं है, ऐसा न मानने पर हम सच्चे अर्थों में शिक्षाऽज्ञ नहीं कहला सकते, हम अपने व्यवसाय में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असफल रहेंगे। एक प्रसिद्ध शिक्षाविज्ञ का कथन है—"जो कुछ हमने सीखा है, उस सब के विस्मृत हो जाने पर जो शेष रहता है, वही वस्तुतः शिक्षा है।" हममें से अधिकांश शिक्षक इन शब्दों के गूढ़ अर्थों को नहीं समझते हैं। एक साधु अध्यापक कुछ ज्ञान प्रदान करके ही संतुष्ट नहीं हो जाता वरन् वह तब ही संतुष्ट होता है जब उसके विद्यार्थी स्कूल या कालेज छोड़ने के पश्चात् भी शिक्षार्जन करना सीख जाते हैं। अस्तु परीक्षा का रूप ऐसा होना चाहिये जिससे वे शिक्षा-प्रक्रिया में उत्तेजक बनने में समर्थ हो सकें, उसमें बाधक नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यमिक शिक्षा की प्रगति

(गतांक से आगे)

मोती लाल भार्गव, एम० ए०

पाठ्यक्रम निर्धारण

उत्तर प्रदेश इन्टरमीडिएट एक्ट १९२१ की धारा १३ (१) के अन्तर्गत बोर्ड को यह अधिकार दिया गया है कि वह बोर्ड के कार्य-संचालन-हेतु विभिन्न समितियाँ चुने। इन समितियों में मुख्य यह हैं।

(१) परीक्षा-समिति
(२) पाठ्यक्रम-समिति
(३) मान्यता-समिति
(४) अर्थ-समिति
(५) विषय-समितियाँ

उपरोक्त समितियों का चुनाव बोर्ड के चुनाव के पश्चात् प्रथम वार्षिक बैठक में होता है। साधारणतः प्रत्येक समिति में ५ सदस्य होते हैं और वे २ सम्बद्ध (Co-opt) कर सकते हैं। केवल पाठ्यक्रम-समिति तथा कृषि समितियों की संख्या भिन्न होती है। प्रत्येक समिति को यह अधिकार है कि वह आवश्यकता पड़ने पर अनु-समिति (Sub-committee) नियुक्त कर सके। कुछ अनु-समितियाँ धीरे-धीरे कार्य बढ़ने से महत्व पूर्ण बन गई हैं, जैसे परीक्षाफल-समिति (Results committee), व्यक्तिगत-परीक्षार्थी-समिति (Private candidates committee), जाँच-समिति (Scrutiny committee) उपस्थिति-पूरक-समिति (Condonation committee)......

विभिन्न समितियों की आख्याएँ बोर्ड की बैठकों में प्रस्तुत की जाती हैं, बोर्ड उन पर विचार-विनिमय करता है तथा निर्णय करता है। जिन प्रस्तावों के विषय में मतभेद हो जाता है उन्हें या तो रद्द कर दिया जाता है अथवा समिति को वापिस भेज दिया जाता है। बोर्ड की समस्त समितियों में परीक्षा-समिति प्रधानतया सर्वशक्तिशाली समिति है। परीक्षा-संचालन, परीक्षकों, गणकों आदि की नियुक्ति, केन्द्र-स्थापना व तत्सम्बन्धी अन्य जाँच इत्यादि, तथा विभिन्न परीक्षाओं को हाई स्कूल के समान स्वीकार करना इसी समिति की आख्या पर निर्भर होता है। इसी को बोर्ड के विनियमों में सुधार आदि करने का अधिकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। बोर्ड की स्थापना-काल से आज तक अनेक शिक्षा विशेषज्ञों ने इस समिति के कार्य में सहयोग दिया है।

विषय समितियाँ तथा पाठ्यक्रम समितिः—विषय समितियों की आख्याएँ पाठ्यक्रम समिति के सम्मुख प्रस्तुत की जाती हैं। बोर्ड के विधान में यह योजना है कि विषय-समितियों के अध्यक्ष (Convener) पाठ्यक्रम-समिति में अपनी समिति की आख्या पर विचार विनिमय करने में सहयोग देते हैं। अधिकतर अध्यक्ष स्वयं बोर्ड के सदस्य होते हैं, इसलिए वे अपना पूर्ण उत्तरदायित्व समझ कर पाठ्यक्रम समिति में तथा बोर्ड में अपनी समिति के निर्णयों पर प्रकाश डालते तथा वाद विवाद में भाग लेते हैं।

गत ३० वर्षों में माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रसार तथा सुधार की ओर प्रान्तीय शासन तथा केन्द्रीय शासन दोनों का विशेष ध्यान रहा। बोर्ड ने भी समय-समय पर इस प्रगति में पूर्ण योग दिया। गत पाँच वर्षों में माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में जो कार्य बोर्ड ने किया वह अद्वितीय रहा। बोर्ड का विधान इस ढंग का बना है कि उसके द्वारा समस्त प्रान्त का शिक्षक वर्ग, शिक्षा-विशेषज्ञ तथा विभागीय अधिकारी गण अपने मन्तव्यों द्वारा शिक्षा-सुधार में योग दे सकते हैं। शिक्षा-संचालक अध्यक्ष होने के नाते विभागीय आज्ञाओं तथा निरीक्षकों की आख्याओं द्वारा माध्यमिक शिक्षा की प्रगति आँक सकता है। बोर्ड तो शिक्षा-संचालक के लिए एक दर्पण रूप है, जिसमें वह अपने विभाग का वास्तविक चित्र देख सकता है, व दोनों विभागों का कार्य एक गुत्थी में बाँध सकता है। माध्यमिक शिक्षा सचिव जिला निरीक्षकों द्वारा संस्थाओं का निरीक्षण करा कर तथा परीक्षार्थियों तथा विद्यार्थियों के बारे में जाँच करा कर विभागीय अनुशासन को दृढ़ बनाता है। बोर्ड के सदस्यों में धारा सभा के सदस्य हैं जो राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र से स्वतन्त्र विचार धारा को बोर्ड में प्रदर्शित कर सकते हैं। विश्व-विद्यालयों के सदस्य, प्रधानाध्यापकों के चुने हुए सदस्य तथा अन्य विभागीय विशेषज्ञ बोर्ड की नीति-निर्धारण में सराहनीय सहयोग देते रहे हैं। ऐसे बोर्ड में जब जब प्राठ्यक्रम समिति ने सुधार योजनाएँ रखीं, बोर्ड ने उनके तत्व को ग्रहण किया व प्रान्तीय शासन को अपनी आख्या प्रस्तुत की।

प्रान्तीय शासन को विनियम तथा नियमों में संशोधन करने का सर्वाधिकार है। इस प्रकार गत ३० वर्षों में बोर्ड ने जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया उसमें शासकीय नीति, विभागीय आदेश, शिक्षा विशेषज्ञों के मन्तव्य तथा बोर्ड के अपने अनुभवों का सुन्दर समन्वय है। क्योंकि भारत में इतना पुराना बोर्ड अपने ढंग का एक ही था इसलिए उसका प्रयास अपने रूप में अनोखा रहा। उत्तर प्रदेश भारत का सबसे बड़ा प्रान्त होने के कारण और भी विशेषता रखता है। अस्तु भारत में माध्यमिक शिक्षा प्रगति में उत्तर प्रदेश का विशेष स्थान रहा व रहेगा।

आंग्ल शिक्षा का ध्येय :—१६१७–२२ सर माईकेल सैडलर कमिटी की आख्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशित होते ही विभिन्न प्रान्तों की माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सुधार करने के सुझाव रखे गए। संस्थाओं का विभाजन अब भी दो भागों में रहा।

(१) आंग्ल-शिक्षा विद्यालय
(२) हिन्दुस्तानी विद्यालय

शिक्षा का मुख्य ध्येय २०वीं शताब्दी के आरम्भ में वही रहा जो मैकाले ने ७ मार्च, १८३५ के मिनट में इस प्रकार प्रदर्शित किया था :—

"that the great object of the British Government ought to be the promotion of European Literature and Science among the natives of India, and that all funds appropriated for the purpose of education would be best employed on English Education alone."

१८५४ ई० में कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने भी अपने आदेशों में यही ज़ोर दिया कि शिक्षा का सर्व प्रथम ध्येय ऐसे पुरुषों को तैयार करना है जो शासकीय कार्य में योग दे सकें। इसकी आवश्यकता इस कारण से भी बढ़ती गई कि अंग्रेजी शासकीय भाषा स्वीकार की गई। बंगाल में १८२९ से ही अंग्रेज़ी में शासकीय पत्र-व्यवहार होता था। उत्तर प्रदेश में १८३६ तक न्यायालयों का कार्य फारसी में होता था। १ नवम्बर, १८३६ को प्रथम आज्ञा दी गई जिसके अन्तर्गत फारसी लिपि में लिखी गई हिन्दी न्यायालयों में प्रयोग में लाई जा सकती थी। १ जुलाई १८३९ में यह आज्ञा दी गई कि न्यायालयों में कोई कार्य फारसी में न होगा। इस प्रकार १८३९ के पश्चात् शासकीय कार्य के लिए अंग्रेजी जानना अथवा फारसी लिपि में लिखित हिन्दी का ज्ञान आवश्यक हो गया।

१९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक उत्तर प्रदेश में अंग्रेज़ी का प्रचार अन्य प्रान्तों के देखते हुए बहुत कम हुआ था। इलाहाबाद में म्युर सेन्ट्रल कालेज की स्थापना की योजना प्रस्तुत करते समय यू० पी० के गवर्नर सर विलियम म्यूर का २४ मई १८६९ के इलाहाबाद दरबार में दिया हुआ भाषण बतलाता है कि आंग्ल शिक्षा प्रसार के पृष्ठ में सरकारी नौकरी प्राप्त करने का ध्येय कितना महत्वपूर्ण था :—

"In lower education we are much in advance of our neighbours in Bengal. But in other respects we are far behind them on whichever side you turn, the railway, the telegraph, the medical, the legal, the engineering, wherever an advanced knowledge of English and science is required, that is in all the highest and the best remunerated posts, you have Bengalees for your successful competitors. They are invading the land and taking possession of that which is your

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

birth-right. I warn you that unless you arouse yourselves from your slumber of indifference, you and your children will be left behind in all the walks of knowledge and enlightenment, and you will discover your mistake when it is too late."

(See:—"The Muir Central College, its origin, foundation and completion" edited by W. H. Wright. Published 1886 P. 2. 3.)

अस्तु उपरोक्त लक्ष्य की पूर्ति के लिए आंग्ल शिक्षा का प्रसार शासन का सर्व प्रथम ध्येय रहा व तदनुसार पाठ्यक्रम का मुख्य विषय अंग्रेज़ी रहा।

आंग्ल शिक्षा का पाठ्यक्रम:—बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तो समस्त अंग्रेजी स्कूलों में प्राइमरी तथा मिडिल स्कूलों की कक्षाओं में शिक्षण का माध्यम अंग्रेजी था परन्तु १९११ ई० तक अंग्रेजी माध्यम को हटा दिया गया। उच्च विद्यालयों में माध्यम अंग्रेजी ही रखा गया। १९१७-२० की शिक्षा विभागीय पंचवर्षीय रिपोर्ट द्वारा मालूम होता है कि माध्यम परिवर्तन के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि शिक्षा का स्तर नीचा हो गया है। फलतः महायुद्ध के पश्चात् पुनः यह प्रयत्न किया गया कि पाठ्यक्रम तथा विषय अध्यापन में ऐसे सुधार किए जायँ कि अंग्रेजी शिक्षा स्तर ऊँचा हो, व शिक्षित वर्ग विश्वविद्यालयों में जाकर विषयों को अंग्रेजी माध्यम द्वारा पढ़ सकें व शासकीय कार्य में योग दे सकें।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात्—माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में १९१७—२२ में निम्नलिखित विषय पाठ्यक्रम में अनिवार्य रूप में रखे गए :—

विषय	पूर्णाङ्क	उत्तीर्णाङ्क
(१) अंग्रेजी	१००	३५
(२) गणित	१००	३५
(३) इतिहास (भारतवर्ष का) तथा भूगोल	१००	३४
(४) भारतीय भाषा	१००	४०
(५) एक ऐच्छिक विषय	१००	

उपरोक्त पाठ्यक्रम को कार्यान्वित रूप देने में विभागीय नीति संकुचित ही बनी रही। अंग्रेजी की प्रधानता जैसी की तैसी रही बीच बीच में यह प्रयत्न किया गया कि उसका स्तर ऊँचा हो जाये।

उत्तर प्रदेश में सर हारकोर्ट बटलर के उत्साह से १९१९-२० में माध्यमिक शिक्षा के प्रसार की प्रथम तीन वर्षीय योजना रखी गई। **आंग्ल शिक्षा क्षेत्र में पाठ्यक्रम में**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो विशेष परिवर्तन किए गए:—

प्रथम :—अंग्रेजी का स्तर ऊँचा करना।

द्वितीय :—विज्ञान की पढ़ाई का प्रबन्ध करना।

इसकी पूर्ति के लिए आठ राजकीय विद्यालयों में १६२१–२२ ई० इन्टरमीडिएट कक्षाएँ खोली गईं। शिक्षा का स्तर ऊँचा रखने के लिए इन्टरमीडिएट कक्षाओं के अध्यापकों को P. E. S. ग्रेड में रखा गया। हाई स्कूलों में अच्छे विद्यार्थियों को प्राप्त करने के लिए बहुत से नए इंगलिश मिडिल स्कूल खोले गए, व अन्य हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूलों में अंग्रेजी वैकल्पिक विषय रखा गया। जिला बोर्डों को अंग्रेजी के पढ़ाने के लिए पूर्ण प्रोत्साहन तथा प्रलोभन दिया गया। जिन स्कूलों में अच्छे शिक्षकों का प्रबन्ध हो सका वहाँ अंग्रेजी के पढ़ाने के लिए Direct method का प्रयोग किया गया। स्कूल लीविंग परीक्षा के आंकड़े अंग्रेजी की व्यवस्था इस प्रकार बताते हैं:—

१६१८	५१%
१६१६	६६%
१६२०	५०%
१६२१	६३%
१६२२	६३%

निरीक्षकों तथा परीक्षकों की तत्कालीन आख्याओं से स्पष्ट होता है कि शिक्षा के क्षेत्र में पाठ्यक्रम के समस्त विषयों में अध्यापक, प्रधानाध्यापक, निरीक्षक तथा विभागीय अधिकारियों का एक मात्र लक्ष्य था किसी प्रकार अंग्रेजी के शिक्षण का स्तर ऊँचा करना।

बोर्ड की स्थापना के पश्चात् पाठ्यक्रम—१९२२—२७ ई०

बोर्ड ने माध्यमिक शिक्षा का भार संभालते ही सर्व प्रथम पाठ्यक्रम में निम्नलिखित परिवर्तन किए:—

(१) अंग्रेजी—में दो प्रश्न-पत्रों के स्थान पर तीन कर दिये व १५० पूर्णाङ्क जिनका विभाजन इस प्रकार था:—

प्रथम प्रश्न-पत्र—गद्य व पद्य तथा व्याकरण	५० अंक
द्वितीय प्रश्न-पत्र—अपठित तथा व्याकरण	४५ अंक
तृतीय प्रश्न-पत्र—अनुवाद तथा प्रबन्ध	४० अंक

तथा १५ अंक का इमला।

(२) आधुनिक भारतीय भाषाओं में १६२५ ई० की परीक्षा के लिए हिन्दी, उर्दू व बंगला में मराठी, गुजराती, उड़िया, तैलगू व तामिल शामिल कर ली गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) १९२६ ई० की परीक्षा से "उच्च गणित" Further mathematics हटा दिया गया व संगीत को विशेष स्थान दिया गया।

(४) इन्टरमीडिएट परीक्षा के लिए अंग्रेजी अनिवार्य विषय बना रहा है व उसके पूर्णाङ्क १५० रहे। इसके अलावा कोई से तीन विषय लिए जा सकते थे। ऐच्छिक विषयों में भी भारतीय भाषाओं को स्थान नहीं था। **१९२५ की इन्टरमीडिएट परीक्षा के लिए केवल बालिकाएँ भारतीय भाषाएँ ले सकती थीं।**

(५) इन्टरमीडिएट परीक्षा के निमित्त Physiology, Hygiene and Child study or Elementary Psychology विषय जोड़े गए।

शिक्षण का माध्यम हाई स्कूल तथा इन्टरमीडिएट में अंग्रेजी ही रही। उच्च कक्षाओं में तो हिन्दी तथा संस्कृत भी अंग्रेजी के ही माध्यम से पढ़ाई जाती थी, प्रश्न पत्र अंग्रेजी में आते थे व उत्तर भी अंग्रेजी में दिया जाता है।

औद्योगिक शिक्षा के बारे में बोर्ड ने पर्याप्त विचार विनिमय तथा वाद विवाद के पश्चात् यह निर्णय किया कि ऐंग्लो हिंन्दुस्तानी स्कूलों में ऐसे विषयों का होना अनिवार्य नहीं। उनको वैकल्पिक विषयों में स्थान अवश्य मिल सकता है।

इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के पुनर्संगठन तथा बोर्ड की स्थापना के दो तीन वर्ष बाद ही जनता की ओर से माध्यमिक शिक्षा परिषद् तथा इन्टरमीडिएट कालेजों की आलोचना होने लगी। प्रान्तीय सरकार ने दिसम्बर १९२५ में ए० एच० मेकन्जी, डी०पी०आई० की अध्यक्षता में एक "इन्टरमीडिएट एजूकेशन कमेटी" नियुक्त की जिसने पाठ्यक्रम के विषय में निम्नलिखित आख्या प्रस्तुत की :—

(१) हाई स्कूल से इन्टरमीडिएट कालेज होने पर संस्था में से छोटी कक्षाएँ अलग कर दी जायँ—केवल दो प्रकार के कालेज हों VII से XII तक अथवा IX से XII तक।

(२) मान्यता समिति मान्यता देते समय शर्तें अवश्य पूर्ण करवाले।

(३) (१) प्रिन्सिपल इन्टरमीडिएट कालेजों को ६५०—३०—९५० का ग्रेड दिया जाए तथा उन्हें रहने के लिए फ्री मकान।

(२) **प्रत्येक इन्टरमीडिएट कालेज में अंग्रेजी पढ़ाने के लिए एक विशेष अध्यापक नियुक्त हों जो P. E. S. ग्रेड का हो।**

(३) इन्टरमीडिएट कक्षा के सभी अध्यापक P.E.S. ग्रेड के हों।

(४) प्राइवेट इन्टरमीडिएट कालेजों को मान्यता उसी समय दी जाए जब वे अध्यापकों को १५०—१०—३५० दे सकें व प्रिन्सिपल को ४०० प्रति मास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) इन्टरमीडिएट कक्षाओं के अध्यापन विधि में सुधार किया जाए।
(५) हाई स्कूल तथा इन्टरमीडिएट के लिए **निम्नलिखित पाठ्यक्रम स्वीकार** किए जांए।

हाई स्कूल	अनिवार्य	अंग्रेजी, भारतीय भाषा, गणित, इतिहास व भूगोल
	वैकल्पिक विषय	एक
इन्टर आर्ट्स	अनिवार्य	अंग्रेजी, इतिहास
	वैकल्पिक विषय	दो
इन्टरमीडिएट साइंस	अनिवार्य	अंग्रेजी
	वैकल्पिक विषय	विभिन्न ग्रुपों में से कोई एक
		भूगोल, गणित

१९२२—१९२७ ई० के पंच वर्षीय काल में सब से महत्वपूर्ण कार्य भारतीय भाषाओं को पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त होना था—हाई स्कूल की परीक्षा के लिए एक भारतीय भाषा लेना अनिवार्य हो गया, मिडिल कक्षाओं तक माध्यम भारतीय भाषा हो गई, हाई स्कूल परीक्षार्थी कुछ विषयों का उत्तर भी अपनी भाषा में लिख सकते थे, तथा इन्टरमीडिएट की परीक्षाओं के लिए भारतीय भाषाएँ वैकल्पिक विषय स्वीकार कर ली गईं।

इतिहास—भारतीय भाषाओं के अलावा पाठ्यक्रम में इतिहास का महत्व दिन प्रति दिन बढ़ता गया। जैसे-जैसे असहयोग आन्दोलन स्वराज्य आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा तथा राष्ट्रीयता की जागृति हुई इतिहास का शिक्षण आवश्यक समझा गया। आरम्भ में केवल भारतवर्ष का इतिहास तथा भूगोल पढ़ाया जाता था परन्तु धीरे-धीरे इतिहास का पाठ्यक्रम बढ़ाया गया व उसमें इंगलैण्ड का इतिहास शामिल करके पूर्ण विषय बना दिया गया जिसे भूगोल के साथ अथवा अलग करके रखा गया। विद्यालयों में इतिहास तथा भूगोल के शिक्षण की शिक्षण-पद्धति में भी सुधार किए गए।

शिक्षा माध्यम में परिवर्तन १९२८—३७

माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में इस दस वर्षीय काल में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। जनता की ओर से यह आग्रह बढ़ता जाता था कि **शिक्षा का माध्यम हिन्दी**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या उर्दू हो। अस्तु प्रान्तीय शासन ने Education Code में निम्नांकित सुधार स्वीकार किया :—

"Aided schools may with the Permission of the Director conduct teaching upto and in class X in English or Urdu or Hindi. A school which has been permitted to use Urdu or Hindi as the medium of instruction in class IX and X may continue to use English text-books in these classes".

१९३७ तक समस्त स्कूलों में माध्यम हिन्दी या उर्दू हो गया। जिला-विद्यालय-निरीक्षक लखनऊ इस परिवर्तन पर आख्या देते हुये लिखते हैं :—

"It is reported by all Head-masters that with the introduction of Vernacular as medium of instruction boys take a greater and more intelligent interest in the subject but the standard of English has, as a result gone down considerably."

(See Quinquenium report ending March 31, 1937 P. 47)

पाठ्यक्रम में अंग्रेजी की प्रधानता होते हुए भी अधिकतर जिला-विद्यालय-निरीक्षकों की आख्याओं से स्पष्ट होता है कि अंग्रेजी शिक्षण का स्तर गिरता गया व असन्तोष बढ़ता ही गया। यद्यपि अधिकतर प्रधानाध्यापक अंग्रेजी पढ़ाते थे, अंग्रेजी के शिक्षक भी ट्रेन्ड होते थे तब भी अंग्रेजी विद्यार्थीगण ठीक तौर से न पढ़ सके। बोर्ड के अंग्रेजी पाठ्यक्रम में भी सुधार हेतु अनेक परिवर्तन किये गये। कभी इमला (Dictation) पर जोर दिया जाता था कभी व्याकरण पर कभी पुस्तकें बदली जाती थीं और कभी परीक्षकों को कसा जाता था, परन्तु विद्यार्थीगण अंग्रेजी से दूर भागते जाते थे, अध्यापक अंग्रेजी शिक्षण का स्तर गिराते जाते थे व असन्तोष बढ़ता जाता था।

अंग्रेजी शिक्षण से बुरी दशा हिन्दी तथा उर्दू की थी। न तो उनके शिक्षकों की उतनी योग्यताएँ थी न वेतन ही। हिन्दी व उर्दू के अध्यापक पंडित व मौलवी होने के कारण संस्थाओं में अंग्रेजी वातावरण में अछूत बने रहे। उस काल के मेरठ जिला विद्यालय-निरीक्षक लिखते हैं कि—

"Perhaps the worst taught subject in Anglo-Vernacular Schools is the Vernacular language".

हिन्दी उर्दू के अध्यापकों की ट्रेनिंग की भी कोई व्यवस्था न थी।

वैकल्पिक विषय—हाई स्कूल के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषय जोड़े गये।

(१) सामान्य विज्ञान (General Science)

(२) धातु कर्म (Metal work)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) ग्रन्थ कला (Book-binding)
(४) कताई बुनाई (Spinning weaving)

आर्थिक सङ्कट तथा सुधार योजनाएँ—१९२९—१९३१ में साईमन कमीशन की एक उप-समिति ने सर फिलिप हारटोग की अध्यक्षता में भारतीय शिक्षा-पद्धति की जाँच की, व आख्या प्रस्तुत की। १९३१–३२ में आर्थिक संकट का प्रभाव शिक्षा-प्रसार पर भी पड़ा। बहुत से अनावश्यक स्कूलों को बन्द करने का निश्चय किया व ८ अगस्त, १९३४ ई० को संयुक्त प्रान्त सरकार ने प्रस्ताव नं० १०८३—। ५९२-१९३४ किया। जिसके द्वारा माध्यमिक शिक्षा में सुधार की आवश्यकता अनुभव कर के सर तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। प्रस्ताव में शासन ने यह सुझाया कि माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम ऐसा बनाया जावे कि विद्यार्थीगण शिक्षा पूर्ण कर के जीवन क्षेत्र में प्रविष्ट हो सकें, तथा विश्व-विद्यालयों में बिना लक्ष्य के बेरोक टोक विद्यार्थीगण की बाढ़ न जाये।

प्रस्ताव में यह भी सुझाव दिया गया कि हाई स्कूल कोर्स चार प्रकार का हो—

(१) वाणिज्य-सम्बन्धी
(२) औद्योगिक
(३) कृषि
(४) आर्ट व साईन्स

मिडिल कक्षाओं में हस्तकला Manual work अनिवार्य किया जाये।

उपरोक्त सुझाव से जन साधारण में विवाद तथा विचार विनिमय खूब हुआ। अन्तरविश्वविद्यालय बोर्ड, केन्द्रीय शिक्षा परामर्श बोर्ड, तथा इन्टर बोर्ड सब ने सुधार की ओर अनुमति प्रकट की। एक बात पर सब सहमत थे कि शिक्षा इस प्रकार की हो कि उसके पूर्ण होते ही विद्यार्थीगण कार्य में, उद्योग-धन्धे या किसी व्यवसाय में लग जायें।

फलतः माध्यमिक शिक्षा परिषद् ने १९३५ की फरवरी १४ व १५ तारीख की बैठक में महत्वपूर्ण प्रस्ताव (प्रस्ताव ५ व १३) पास किए, जिनके अन्तर्गत, कृषि का पाठ्यक्रम पुनः निर्धारित किया गया, इन्टरमीडिएट परीक्षा के लिये Physiology, Hygiene and Elementary Psychology (लड़कों के लिए) तथा Physiology, Hygiene and child-study (लड़कियों के लिए) स्वीकार किये गए। (देखिए बोर्ड का प्रस्ताव नं० ३, ८ नवम्बर, १९३४) जिसका आशय था लड़कियों को अध्यापिका बनने अथवा घरेलू जीवन के योग्य बनाना।

१९३७ की हाई स्कूल परीक्षा के लिए वैकल्पिक विषयों में वाणिज्य, विज्ञान, साधारण विज्ञान, कृषि, चित्र कला, काष्ठ कला, कताई बुनाई, ग्रन्थ कला, गृह विज्ञान, संगीत स्वीकार किए गए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्टरमीडिएट परीक्षा के लिए अंग्रेज़ी अनिवार्य रहा तथा गणित, रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, विज्ञान, कला, अर्थ शास्त्र, नागरिक शास्त्र, इतिहास, भूगोल, भारतीय भाषाएँ, संस्कृत इत्यादि।

वियर कमिटी :—फरवरी, १९३६ में संयुक्त प्रान्त शासन के आर० एस० वियर की अध्यक्षता में सप्रू कमिटी के सुझावों पर विचार करने तथा परामर्श देने के लिए एक समिति नियुक्त की। मई में वियर ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की परन्तु सुझाव में अधिक व्यय होने के कारण कुछ कार्य न हो सका। जनवरी, १९३७ में सरकार ने पुनः एक समिति सर तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में नियुक्त की। इसी अरसे में केन्द्रीय सरकार ने भी एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें **दो विशेषज्ञों, ए० एवट तथा एस० एच० वुड, ने** दिल्ली, पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त का दौरा करके **व्यवसायिक शिक्षा सुधार पर अपना परामर्श दिया।**

वुड एवट ने पाठ्यक्रम के बारे में यह सुझाव दिए :—

(१) देहात के मिडिल स्कूल का पाठ्यक्रम वातावरण से संबन्धित होना चाहिए। अंग्रेजी का अध्ययन अनिवार्य न होना चाहिए।
(२) हाई स्कूल कक्षाओं में शिक्षण का माध्यम हिन्दी या उर्दू हो। अंग्रेजी का अध्ययन अनिवार्य रह सकता था।
(३) हस्त कला का पाठ्यक्रम में स्थान होना चाहिए।
(४) शारीरिक व्यायाम तथा शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाये।
(५) व्यवसायिक शिक्षा साधारण शिक्षा से सम्बन्धित होनी चाहिए बिल्कुल भिन्न नहीं।
(६) व्यवसाय तथा उद्योग धन्धों का संस्थाओं से योग होना चाहिए।
(७) कुछ हाई स्कूलों में तो केवल कृषि सम्बन्धी पाठ्यक्रम होना चाहिए।
(८) औद्योगिक विद्यालयों को व्यवसाय में संलग्न युवकों के लिए भी कक्षाएँ चलानी चाहिए।
(९) विद्यार्थियों के लिए व्यवसाय सम्बन्धी सूचना पुस्तिका रूप में प्रकाशित की जाए।

१९२८–१९३७ ई० के काल में अनेक सुधार योजनाएँ बनी परन्तु आर्थिक संकट तथा राजनैतिक असन्तोष, असहयोग आन्दोलन के कारण अधिक कुछ न हो सका।

राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति की ओर :—१९३७-४७ ई०

१९३५ ई० में भारतीय शासन का नियम पास हुआ, जिसके अन्तर्गत १ अप्रैल १९३७ ई० को प्रान्तों में प्रान्तीय शासनों की स्थापना हुई। अधिकतर धारा सभाओं में काँग्रेस पार्टी ने बहुमत प्राप्त किया। संयुक्त प्रान्त में २८ मार्च १९३८ ई० को प्रथम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काँग्रेस मन्त्रि मन्डल ने दो उप-समितियाँ नियुक्त कीं। प्रथम उप-समिति के अध्यक्ष श्री करनसिंह काने थे व सचिव, डा० इबादुर रहमान खाँ, द्वितीय कमिटी के अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्र देव तथा सचिव पं० श्री नारायण चतुर्वेदी। परन्तु कुछ समय पश्चात् दोनों समितियाँ नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में मिलीं। १६३६ ई० में समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। परन्तु काँग्रेस मन्त्रि मन्डल के इस्तीफा देने के कारण रिपोर्ट पर कार्य न हो सका।

१६४४ ई० में केन्द्रीय शिक्षा परामर्श बोर्ड की रिपोर्ट सरजॉन सारजेन्ट के प्रयत्नों द्वारा प्रकाशित हुई। समस्त भारत के राष्ट्रीय शिक्षा प्रसार की यह प्रथम योजना थी, परन्तु आर्थिक संकट के कारण यह कार्यान्वित रूप न धारण कर सकी।

इस काल में माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। संयुक्त प्रान्त सरकार ने १६४१ ई० में उत्तर प्रदेश इन्टरमीडिएट शिक्षा संशोधन एक्ट बना जिसके द्वारा बोर्ड से मिडिल स्कूल से पाठ्यक्रम बनाने का अधिकार ले लिया गया।

हाई स्कूल के पाठ्यक्रम में वैकल्पिक विषयों में धातु कला तथा कृषि सम्बन्धी अर्थशास्त्र बढ़े तथा १६४७ ई० की हाई स्कूल परीक्षा के लिए चर्मकारी तथा सिलाई बढ़े। भाषाओं में नैपाली तथा पाली पाठ्यक्रम में शामिल किए गए।

इन्टरमीडिएट परीक्षा के लिए भारतीय संगीत, Physiology, Hygiene and Elementary Psychology बढ़े, तथा बालिकाओं के लिए गृह विज्ञान तथा घरेलू अर्थ शास्त्र।

१९४७ में सुधार :—इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में समय समय पर परिवर्तन हुए, विशेषतः व्यवसायिक उद्योग धन्धे सम्बन्धी विषय बढ़ाये गए अथवा बालिकाओं की शिक्षा व्यवस्था को प्रोत्साहन देने के लिए। परन्तु सुधार सम्बन्धी योजना अभी योजना ही रही। इसी अरसे में १६४७ ई० में हाई स्कूल परीक्षा के लिए एक नवीन योजना प्रस्तुत की गई। इसके अनुसार निम्नलिखित पाठ्यक्रम निर्धारित हुआ।

अनिवार्य विषय	प्रश्न-पत्र	प्राप्तांक	
१. अंग्रेजी	२	१००	३००
२. अंक-गणित	१	५०	
३. इतिहास अथवा	१	५०	
भूगोल	१	५०	
४. भारतीय भाषा	२	१००	

५. एच्छिक विषय:— कम से कम दो व अधिक अधिक से चार २००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्टरमीडिएट परीक्षा के लिए अंग्रेजी अनिवार्य रही व २१ एच्छिक विषयों में से कोई से तीन लिए जा सकते थे। केवल वाणिज्य तथा कृषि के लिए अलग पाठ्यक्रम निर्धारित थे।

इस योजना के अन्तर्गत ३ वर्ष हाई स्कूल परीक्षा ली गई, १९४७, १९४८ और १९४९। १९४८ में बोर्ड शासन के आदेशानुसार पाठ्यक्रम में पूर्णतः परिवर्तन कर दिया, जिसके अन्तर्गत पहली हाई स्कूल परीक्षा १९५० ई० में हुई।

स्वतन्त्रता के पश्चात् १९४८ की सुधार योजना

१९४८ की केन्द्रीय शिक्षा परामर्श बोर्ड की संस्तुति तथा प्रथम नरेन्द्र देव कमिटी के आधार पर एक सुधार योजना प्रस्तुत की गई, जिसने १८५४ के वुड डिसपैच के आधार पर निर्धारित आंग्ल शिक्षा-पद्धति को डांवाडोल किया। संयुक्त प्रान्त ने योजना की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए एक कमिटी बुलाई जिसमें विश्व-विद्यालयों के निर्वाचित सदस्य, बोर्ड के दो सदस्य तथा दो प्रमुख शिक्षक संस्थाओं के निर्वाचित सदस्यों को लखनऊ दिसम्बर माह में बुलाया गया। माननीय शिक्षा मन्त्रि की अध्यक्षता में सभा हुई और महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए, जिनमें मुख्य यह थे :—

(१) प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा का काल १२ वर्ष रहेगा।

(२) शिक्षा काल का विभाजन इस प्रकार होगा।

(अ)	बेसिक काल	१ से ५ कक्षा तक	५ वर्ष
(ब)	जूनियर हाई स्कूल काल	६ से ८ कक्षा तक	३ वर्ष
(स)	उच्चतर माध्यमिक काल	९ से १२ कक्षा तक	४ वर्ष

(३) हिन्दुस्तानी तथा इंग्लिश मिडिल स्कूलों का भेद दूर होगा। जूनियर हाई स्कूल कक्षा में अंग्रेजी अनिवार्य नहीं होगी।

(४) उच्चतरमाध्यमिक काल में हिन्दी अनिवार्यतः पढ़नी होगी।

(५) माध्यमिक विद्यालयों का वर्गीकरण विषयों के अनुसार होगा जिससे विद्यार्थियों को जीवन में प्रविष्ट होने में सुगमता हो।

सुधार योजना स्वीकार होने के पश्चात् इन्टरमीडिएट बोर्ड ने प्रान्तीय सरकार के आदेशानुसार पाठ्यक्रम में परिवर्तन किए। समस्त पाठ्य विषयों को हाई स्कूल परीक्षा के लिए निम्नलिखित वर्गों में बांटा गया।

(१) साहित्यिक

(२) वैज्ञानिक

(३) रचनात्मक अः—बालकों के लिए
बः—बालिकाओं के लिए

(४) कलात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य विषयों को वर्गानुसार छाँटा गया जैसे, गृह विज्ञान तथा सिलाई रचनात्मक वर्ग (बालिकाओं के लिए) संगीत, कलात्मक वर्ग में। धातु कला, कुलाल विज्ञान, रचनात्मक (बालकों के लिए)

उच्च हिन्दी अथवा प्रारम्भिक हिन्दी सब वर्गों में अनिवार्य रही। अंग्रेजी रचनात्मक तथा कलात्मक वर्गों में वैकल्पिक विषय रखा गया। शिक्षण का, तथा परीक्षा का माध्यम पूर्णतया हिन्दी कर दिया गया है। १६५४ की हाई स्कूल तथा इन्टरमीडिएट परीक्षा के प्रश्न-पत्र हिंदी में होंगे। उत्तर देने का माध्यम केवल हिंदी होगा परन्तु कुछ समय तक उर्दू व अंग्रेजी में उत्तर देने की विशेष आज्ञा प्रदान की जायगी।

माध्यमिक शिक्षा संस्थाओं में शारीरिक व्यायाम तथा शिक्षा अनिवार्य कर दी गई है। सामान्य ज्ञान पाठ्यक्रम में अनिवार्य विषय है।

पाठ्यक्रम परिवर्तन क्षेत्र में केन्द्रीय शासन के प्रयास :—

गत पाँच वर्ष में केन्द्रीय शिक्षा परामर्श बोर्ड तथा, विश्व-विद्यालयों के डा० राधा कृष्णन कमीशन ने, यह सुझाव दिया कि माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सुधार हेतु भारतीय शासन को एक कमीशन नियुक्त करना चाहिए। फलतः २३ सितम्बर, १६५२ के प्रस्ताव नं० ६-५-५२-बी १ में भारतीय सरकार ने डा० ए० एल० मुदेलियर, वाईस चान्सेलर मद्रास विश्व-विद्यालय की अध्यक्षता में एक ६ सदस्यों का कमीशन नियुक्त किया। जून १६५३ में कमीशन ने अपनी संस्तुति दे दी।

पाठ्यक्रम क्षेत्र में मुदेलियर कमीशन ने यह संस्तुति दी :—

(अ) १. मातृ भाषा अथवा प्रादेशिक भाषा अथवा मातृ भाषा तथा संस्कृत का मिश्रित पाठ्यक्रम।

२. निम्नलिखित भाषाओं मे से एक और :—

(क) हिंदी (जिनकी मातृ भाषा दूसरी भाषा हो)
(ख) प्रारम्भिक अंग्रेजी (जिन्होंने पहले अंग्रेजी नहीं पढ़ी)
(ग) उच्च अंग्रेजी (जिन्होंने अंग्रेजी पहले पढ़ी हो)
(घ) आधुनिक भारतीय भाषा (हिंदी के अलावा)
(च) आधुनिक विदेशी भाषा (अंग्रेजी के अलावा)
(छ) प्राचीन भाषा

(ब) १. सोशल स्टडीज (प्रथम दो वर्षों के लिए)

२. सामान्य विज्ञान जिसमें गणित भी शामिल होगा (प्रथम दो वर्षों के लिए)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(स) निम्नलिखित रचनात्मक विषयों में से एक :—
(क) कताई बुनाई (ख) काष्ठ कला (ग) धातु कला
(घ) बागबानी (च) सिलाई (छ) टङ्कन विद्या
(ज) कारखानेमें अभ्यास (झ) सीना, काढ़ना तथा कसीदा
(ञ) रंजन कला

(य) निम्नलिखित वर्गों में से किसी एक में से तीन विषय :—
वर्ग
1. Humanities
2. Sciences
3. Technical
4. Commercial
5. Agriculture
6. Pure Arts
7. Home Science

(ल) एक अतिरिक्त वैकल्पिक विषय.

× × ×

संयुक्त प्रान्त सरकार ने भी मार्च १८, १९५२ को पुनः डा० नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में एक माध्यमिक शिक्षा जाँच समिति नियुक्त की, जिसकी आख्या मई १९५३ में प्रस्तुत की गई। उसके अनुसार पाठ्यक्रम सम्बन्धी यह सुझाव दिए गए।

प्रथम दो वर्षों में :—
९वीं व १०वीं कक्षा के लिए

अनिवार्य विषय :—३
(१) हिंदी व संस्कृत का मिश्रित पाठ्यक्रम
(२) एक अन्य भारतीय भाषा अथवा विदेशी भाषा
(३) गणित अथवा गृह विज्ञान (बालिकाओं के लिए)

वैकल्पिक विषय :—३
निम्नलिखित वर्गों में से
(१) साहित्यिक वर्ग
(२) वैज्ञानिक वर्ग
(३) कृषि वर्ग
(४) रचनात्मक या औद्योगिक वर्ग
(५) कलात्मक वर्ग

अतिरिक्त विषयः—१
साहित्यिक वर्ग के वैकल्पिक विषयों में से।

अन्तिम दो वर्षों में
११ व १२वीं कक्षाओं के लिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य विषय :—२

(१) हिंदी व संस्कृत मिश्रित पाठ्यक्रम

(२) एक अन्य भारतीय भाषा अथवा विदेशी भाषा

वैकल्पिक विषय :—३

निम्नलिखित वर्गों में से

(१) साहित्यिक वर्ग (३) कलात्मक वर्ग

(२) वैज्ञानिक वर्ग (४) कृषि व वाणिज्य वर्ग

कमिटी ने यह भी संस्तुति दी कि मुख्य तथा गौण विषयों का विभाजन समाप्त कर दिया जाय।

× × ×

हाई स्कूल तथा इन्टरमीडिएट बोर्ड की संस्तुति

दिसम्बर, १६५३ की वार्षिक बैठक में बोर्ड ने पाठ्यक्रम सम्बन्धी योजनाओं पर तथा अन्य परीक्षा सम्बन्धी विषयों पर महत्वपूर्ण निर्णय लिए।

हाई स्कूल कक्षाओं के लिए
(९वीं व १०वीं)

अनिवार्य विषय :—४

(१) हिंदी व संस्कृत का मिश्रित पाठ्यक्रम

(२) अंग्रेजी

(३) सोशल स्टडीज (इतिहास, भूगोल, नागरिक-शास्त्र तथा अर्थशास्त्र का मिश्रित पाठ्यक्रम)

अथवा

दैनिक विज्ञान

अथवा

एक भारतीय भाषा हिन्दी के अलावा

(४) गणित (लड़कों के लिए)

अथवा

गृह विज्ञान (लड़कियों के लिए)

वैकल्पिक विषय:—२

११ मुख्य तथा १४ गौण विषयों की सूची में से कोई दो

इन्टरमीडिएट कक्षाओं के लिए

अनिवार्य विषय:—२

(१) हिन्दी व संस्कृत मिश्रित पाठ्यक्रम

(२) अंग्रेजी साहित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा

अन्य भारतीय भाषा (हिन्दी के अलावा)

अथवा

अन्य विदेशी भाषा फ्रांसीसी, (जर्मन, रूसी, चीनी या जापानी)

वैकल्पिक विषय:—३

१९ विषय की सूची में से कोई तीन:—

(१)	इतिहास	(२)	भूगोल	(३)	नागरिक शास्त्र
(४)	गणित	(५)	अर्थशास्त्र	(६)	प्राचीन भाषा
(७)	शिक्षण शास्त्र	(८)	तर्क शास्त्र	(९)	गृह विज्ञान
(१०)	संगीत	(११)	कला	(१२)	मूर्ति निर्माण कला
(१३)	नृत्य	(१४)	भौतिक विज्ञान	(१५)	रसायन विज्ञान
(१६)	जीव विज्ञान	(१७)	सैनिक विज्ञान	(१८)	भूगर्भ शास्त्र
(१९)	रंजनकला				

वाणिज्य तथा कृषि वर्ग पृथक् रहेंगे उनके लिए एक एक वर्षीय पाठ्यक्रम दो भागों में बनेंगे।

औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में बोर्ड ने दो महत्व-पूर्ण निश्चय किए।

(१) १९५५ की परीक्षा से बोर्ड उत्तर प्रदेश के औद्योगिक तथा व्यवसायिक विद्यालयों को अपने अन्तर्गत लेकर उन्हें परीक्षा लेकर हाई स्कूल तथा इन्टरमीडिएट स्तर के प्रमाण पत्र देगी।

(२) नवीन पाठ्यक्रम लागू होने के वर्ष से रचनात्मक तथा औद्योगिक पाठ्यक्रम का समन्वय करने के लिए दो विशेष समितियाँ नियुक्त कीं। यह ऐसा पाठ्यक्रम प्रस्तुत करेंगी जो अपने आप में पूर्ण होंगे व जीवन क्षेत्र में प्रविष्ट होने योग्य बनायेंगे।

× × ×

बोर्ड की संस्तुति तथा अन्य सुधार योजनाएँ

विभिन्न योजनाएँ कई बातों में एक निर्णय पर पहुँची हैं जिनमें मुख्य यह हैं :—

(१) हिन्दी मातृ भाषा तथा राष्ट्र भाषा के रूप में अनिवार्य रहेंगी।

(२) अन्य अनिवार्य विषयों में लड़कों के लिए गणित, विज्ञान, सोशल स्टडीज, तथा लड़कियों के लिए गृह विज्ञान रहेंगे।

(३) मातृ-भाषा, राष्ट्रभाषा के अतिरिक्त एक अन्य प्रादेशिक भाषा तथा विदेशी भाषा का अध्ययन आवश्यक होगा।

(४) कम से कम दो या तीन वैकल्पिक विषय पढ़ना अनिवार्य होगा।

(५) विद्यार्थियों को एक अतिरिक्त विषय पढ़ने की स्वतन्त्रता होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुदेलियर कमीशन की संस्तुति अनुसार माध्यमिक शिक्षा क्षेत्र में पाठ्य-काल ३ वर्ष अथवा ४ वर्ष का हो सकता है। प्रथम दो वर्ष का पाठ्य क्रम हाई स्कूल के स्तर का होगा। विश्व-विद्यालयों में बी० ए० का ३ वर्षीय पाठ्य-क्रम होगा। परन्तु कमीशन की आख्यानुसार कुल माध्यमिक तथा प्राथमिक शिक्षा का काल १२ वर्ष का होना चाहिए, जो उत्तर प्रदेश में इस समय भी है। १९४८ ई० की योजना में १ वर्ष कम कर दिया गया था। उस वर्ष को बी० ए० के पाठ्य क्रम में जोड़ना या न जोड़ना विश्व-विद्यालयों के हाथ में है।

मुदेलियर कमीशन के सुझाव के अन्तर्गत प्रत्येक विद्यार्थी को एक रचनात्मक विषय अवश्य पढ़ना चाहिए। यह सुझाव वास्तव में अनोखा व सराहनीय है, यदि आर्थिक अवस्था अच्छी हो तो यह अवश्य होना चाहिए। महात्मा गांधी के शिक्षा आदर्श का यह प्रधान स्तम्भ था। संसार के किसी भी देश के पाठ्यक्रम में इसकी इतनी महत्ता को अभी नहीं आंका गया। परन्तु भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति, जिसका श्री गणेश १९५४ में, आंग्ल शिक्षा के १०० वर्षीय काल (१८५४ से १९५४) के पश्चात् होता दिखाई देता है, इसी स्तम्भ पर खड़ी होकर दृढ़ हो सकती है।

मातृ-भाषा को सर्वोत्तम स्थान देना मुदेलियर कमीशन ने पूर्ण रूप से स्वीकार किया है। यदि प्रादेशिक भाषावादी खींचातानी को समाप्त करना है तो इसी की संस्तुति मानना पड़ेगा।

सामान्य विज्ञान व सोशल स्टडीज को प्रथम दो वर्षों के पाठ्यक्रम में विशेष स्थान दिया गया है। इसको बोर्ड ने भी अंगीकार करने का प्रयत्न किया है। बोर्ड तथा नरेन्द्र देव कमिटी का गणित को अनिवार्य रखने का निश्चय अपनी विशेषता रखता है।

नरेन्द्रदेव कमेटी तथा मुदेलियर कमीशन ने वैकल्पिक विषयों को वर्गों में बाँटा है। अथवा दूसरे शब्दों में बोर्ड की १९४८–५३ की पाठ्यक्रम योजना तथा पाठ्यक्रम तत्व योजना (Core of curriculum) का समन्वय किया। बोर्ड ने अपनी संस्तुति में न केवल अपने १९४८ के वर्गीकरण को छोड़ दिया वरन् वैकल्पिक विषयों की चुनौती में पूरी छूट दे दी है, केवल वाणिज्य, कृषि तथा औद्योगिक विषयों को छोड़ कर इन्टरमीडिएट कक्षाओं के लिए तो आर्ट व साईन्स का इतना पुराना भेद भी हटा दिया है।

पाठ्यक्रम निर्धारण, परीक्षा संचालन तथा विद्यार्थियों के चुनाव सम्बन्धी हित से तो वैकल्पिक विषयों का वर्गीकरण, जबकि उनकी संख्या इतनी बढ़ गई है, अत्यन्तावश्यक प्रतीत होता है। इसमें मुदेलियर कमीशन का वर्गीकरण वैज्ञानिक ढंग पर मालूम होता है।

बोर्ड की संस्तुति में अंग्रेजी के साधारण पाठ्यक्रम को प्रथम दो वर्षों में रखने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु इस क्षेत्र में नरेन्द्रदेव कमीटी तथा मुदेलियर कमीशन की स्पष्ट संस्तुतियों के समक्ष यह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। इस विषय में १९४८ ई०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में यू० पी० बोर्ड ने स्वयं ही कदम बढ़ाया था। बोर्ड के पाठ्यक्रम में द्वितीय अनिवार्य विषय अंग्रेजी अथवा एक भारतीय भाषा अथवा विदेशी भाषा रखने तथा तृतीय अनिवार्य विषय केवल सोशल स्टडीज, अथवा दैनिक विज्ञान (Everyday Science) रखने से पाठ्यक्रम अत्यन्त सुन्दर व उपयोगी हो जाता है।

मुदेलियर कमीशन की रचनात्मक विषयक संस्तुति यदि प्रारम्भ में अतिरिक्त विषय में रखी जाएँ तो शायद अधिक लाभ हो सके परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की शिक्षा पद्धति में रचनात्मक विषयों को अनिर्वायत: रखने से कल्याण होगा।

नवीन शिक्षा-पद्धति का निर्माण

अस्तु राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी का भारत को पूर्णत: स्वाधीन बनाने का स्वप्न तभी सत्य हो सकता है जब कि भारतीय शिक्षा पद्धति का पूर्ण भारतीकरण हो जाए। १८५४ ई० के सर चार्ल्स वुड डिसपैच के अन्तर्गत चालू किए "आंग्ल शिक्षा दुर्ग" का विध्वंस होना अनिवार्य है।

कांग्रेस के तथा भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहासकार डा० पट्टाभी सीता रामैय्या ने अपने एक लेख में कितनी सुन्दर उपमा देते हुए बताया है कि १८५७ के विद्रोह के दमन के पश्चात् ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने तलवार म्यान में डाल ली व कलम व शिक्षा के द्वारा भारत पर राजनैतिक व सांस्कृतिक विजय प्राप्त की। भारतीय युवकों को ब्रिटिश साम्राज्य की ओर झुकाया।

Canning and Sir Charles Wood were the high priests of this philosophy. Instead of building forts or forging weapons or multiplying soldiers on the old model, the British with their shrewdness and foresight built these new models forts in the Universities of Madras, Bombay and Calcutta (1858), trained a new soldiery in the graduates of these Universities and forged new weapons in pens and tongues that the new soldiery were made to employ......... . The Universities were followed by the High Courts in 1860, and the Legislative Council in 1861. From that day forward a new class of citizen soldiers of the British Government, a second line reserve of intellectuals, who began to imbibe English culture, learn the English language, quote English law and poetry, who revelled in the English drama, spoke, wrote, and thought in English, held high posts under the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

English Govt. , enjoyed salaries and pensions under English rule and exercised the authority delegated to them by the English rulers and be-decked themselves in English titles.

इस प्रकार की आंग्ल शिक्षा द्वारा भारत की सांस्कृतिक विजय का चक्र-व्यूह सत्याग्रह आन्दोलन ने भेदा। अब ठीक १०० वर्ष पश्चात् नव भारत की शिक्षा पद्धति की नींव नवीन पाठ्यक्रम द्वारा पड़नी आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिट्टी के बर्तनों का आदि उद्योग

राम नरेश सिंह

आज मानव समाज जीविका के लिये अनेक प्रकार के उद्योगों में व्यस्त है। ज्यों-ज्यों मानव की आवश्यकतायें बढ़ती गईं, उसी क्रम से नये उद्योगों का विकास होता गया। स्पर्द्धा मानव का स्वाभाविक गुण है इसी से प्रेरणा पाकर उद्योगों में भी होड़ लग जाती है। सृष्टि के आदि काल से इस होड़ में कितने मिट चुके हैं अथवा भविष्य में कितने मिट जायेंगे और कितने नये बनेंगे इसका अनुमान करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी है। इस उथल पुथल की आड़ में परिवर्तनकारी भावना रहती है। इससे वे ही बच सकते हैं जो औरों की तुलना में कुछ विशेष गुण रखते हों तथा निर्माण के लिये सुगम साधन एवं सुलभ पदार्थ हों। इसी प्रकार के उद्योग धीरे धीरे सामाजिक परम्पराओं में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

उपरोक्त बातों को केन्द्रित कर यदि कल्पना की जाय तो एक ऐसा उद्योग सामने आता है जिसे मानव ने सभ्यता के प्रारंभिक काल से आरम्भ किया है। उसके जीवन के लिये वह बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। वह है कुलाल-कला अथवा मिट्टी का बर्तन बनाना। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि मिट्टी का बर्तन सबसे पहले किसने बनाया और कैसे बना ? किन्तु मिट्टी के विशेष गुणों को देखते हुये इस कला के विकास तथा उद्योगीकरण की कल्पना की जा सकती है। प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य जंगल में रहता था और फल, फूल तथा जानवरों के शिकार द्वारा अपना जीवन निर्वाह करता था। उसकी ही खोज में सदा इधर उधर भटकता फिरता था। उसने किसी दिन किसी गीले स्थान से होकर यात्रा की होगी। उस स्थान पर उसके गहरे पद-चिन्ह बने होंगे। कुछ दिनों पश्चात् वह दूसरी बार उसी रास्ते गया होगा और देखा होगा कि उसके पद चिन्ह मिटे नहीं और सूर्य की गर्मी से सूख कर कठोर हो गये। उस दृश्य से मिट्टी की सरलता, लस और सूख कर कठोरता प्राप्त कर लेना आदि गुणों का संकेत मिला होगा। फल स्वरूप मिट्टी से बर्तन बनाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ होगा। आगे चल कर मानव ने यह भी देखा होगा कि वृक्षों की रगड़ से उत्पन्न आग की आंच से मिट्टी पक कर लाल हो गई और अधिक सबल हो गई। उस पर पानी का प्रभाव नहीं होता। इससे मिट्टी के पात्रों को पकाने की प्रेरणा मिली होगी तथा उसके स्थायित्व और अदाह्यता के गुण प्रकट हुये होगें। यह सब कल्पना मात्र है। क्या सत्य है कोई नहीं कह सकता। इतिहास को साक्षी मानकर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम मिट्टी से ही बर्तन बने और उस समय समाज के लिये उनकी बड़ी आवश्यकता थी। प्रागैतिहासिक काल में इस कला का विकास होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा था। भारतवर्ष, चीन, मिश्र तथा ग्रीस जहाँ से सभ्यता का श्रोत आरंभ हुआ वहाँ खुदाई करने पर पन्द्रह हजार वर्ष प्राचीन हाथ के बने मिट्टी के बर्तन मिले हैं। यह भी पाया जाता है कि उस काल की निर्मित मिट्टी की वस्तुओं पर अनेक प्रकार के चित्राङ्कन हैं जो उस काल के भेष भाषा तथा अन्य प्रकार की रीति रिवाजों पर प्रकाश डालते हैं। वेदों में भी मिट्टी के पात्रों की पर्याप्त चर्चा की गई है। मनुस्मृति में जो ईसा से पूर्व नवीं सदी में लिखी गई थी मिट्टी के पात्रों की उपयोगिता भली भांति बताई गई है। सिंध नदी की घाटी में खोज एवं खुदाई करने पर हड़प्पा और मोहेञ्जोदाड़ो नामक स्थानों में अनेक प्रकार के प्राचीन मिट्टी के समान मिले हैं जिनके चार हजार वर्ष पुराने होने का अनुमान लगाया गया है। इसी प्रकार ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ में भी इस कला की उन्नति पाई जाती है। उसी समय से हाथ के अलावा चाक पर पात्र बनने लगे थे। इस बात का प्रमाण मिट्टी के सामानों पर बने चित्रों के द्वारा मिलता है। शनैः शनैः आवश्यकतानुसार यह कला मानव का प्रथम उद्योग बन गई और अनेक इस कार्य में लग गये। इस बात का भी काफी प्रमाण मिलता है कि वसुन्धरा के कोने कोने में यह उद्योग होता था। विद्वानों का मत है कि पोर्सलेन जो मिट्टी से बनी सबसे उच्चकोटि की वस्तु मानी गई है ईसा से १८५ वर्ष पूर्व सर्वप्रथम चीन में बनी थी। चीन वालों ने इसके बनाने की विधि को गोपनीय रखा और इससे काफी लाभ उठाया। लगभग १५१८ ई० में कुछ पुर्तगाल निवासी जब चीन में मैकाओ नाम के स्थान में बसे तो उन्हीं के द्वारा यूरोप में पोर्सलेन के बने पात्र प्रविष्ट हुये। उस पोर्सलेन को चीन निवासी 'सेकी' कहते थे। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मिट्टी से सामान बनाने का उद्योग बहुत प्राचीन है और संभवतः सबसे प्राचीन है इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता। सर्व प्रथम मानव की कलात्मक एवं रचनात्मक प्रवृत्तियों का प्रदर्शन मिट्टी के ही ऊपर हुआ था।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है वही उद्योग स्थायी हो सकता है जिसके लिए पदार्थों का मिलना कठिन न हो। जो बड़ी सरलता से निर्मित की जा सके तथा उसमें कुछ ऐसे विशेष गुण हों जो किसी अन्य में न पाये जाते हों। यदि मिट्टी के कुछ सरल गुणों पर जिनका सभी को अनुभव है दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होता है कि पानी मिलाने पर मिट्टी कितनी लचीली हो जाती है और उसे बड़ी सरलता से कोई भी रूप दिया जा सकता है। इस गुण के कारण भोले भाले मानव ने प्रथम पात्र इसी से अवश्य बनाया होगा। इसके लिए कहीं दूर जाना भी नहीं पड़ता। मिट्टी सभी के पाँव के नीचे पायी जाती है। इसका रूप बनाने में किसी जटिल यन्त्र की भी आवश्यकता नहीं होती। इसके अलावा मिट्टी का एक विशेष गुण उसकी अदाह्यता अर्थात् अग्नि की आंच सहन करने की शक्ति है। इन गुणों के कारण मिट्टी अधिक उपयोगी बन गई है। इन्हीं ने इस कला को विनाश से बचा कर मानव समाज के विकास के लिए बहुप्रयोजनीय बना दिया है। विज्ञान की उन्नति के साथ मिट्टी के इन गुणों को दृष्टि में रखकर अनेक खोज किये गये हैं। इस कला से संबन्धित विज्ञान को 'कुलाल विज्ञान' कहते हैं। भूगर्भ शास्त्र के पण्डितों ने इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात का पता लगाया है कि मिट्टी अपने रूप में बनने के पहले कौन कौन अन्य रूप धारण करती है तथा उनके क्या गुण हैं। इन गुणों का क्या प्रभाव होता है। इन्हीं प्रभावों को आधार मान कर इस कला ने बड़ी उन्नति की है और इसकी अनेक शाखायें बन गई हैं। उनमें मुख्य पांच है :—कुम्भकार, तामचीन कलायें, काँच बनाना, सिमेन्ट तथा अदाह्य अथवा रिफ्रैक्टरी। इन वस्तुओं की आवश्यकता इतनी बढ़ गई है कि आज यह एक प्रमुख उद्योग बन गया है। यदि अदाह्य वस्तु अथवा रिफ्रैक्टिरी न हो तो इतनी बड़ी मात्रा में धातुओं का बनना असंभव हो जाये। तामचीन और काँच के सामानों की उपयोगिता किसी से छिपी नहीं है। कुम्भकार कला के अन्तर्गत, सभी प्रकार के ताप तथा विद्युत-अवरोधक बने हैं जिनकी सहायता से दूर दूर तक के लिये परिचालन तथा परिवाहन संभव हुआ है और सामाजिक जीवन का स्तर इतना ऊँचा उठा है। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात समाज के आर्थिक जीवन तथा किसी देश की सुरक्षा के लिये यह बहुत ही महत्वपूर्ण हो गया है। अब तो इस उद्योग द्वारा इतने प्रकार के सामान बनने लगे हैं जिनकी कल्पना नहीं हो पाती। कौन कह सकता था कि कांच जैसी निर्बल वस्तु से अत्यन्त सबल रेशे बनने लगेंगे जो सेन्ट्रीफूगल जैसी मशीन में उपयोग होंगे। यह सब सम्भव हुआ इसलिये कि मानव इसके लिये सतत प्रयत्नशील था और आदि काल से ही इस चिंतन में था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा की शिक्षा में श्रुतलेख का स्थान

रमापति शुक्ल एम० ए०

भाषा की शिक्षा में अनेक प्रकार के लिखित अभ्यासों के साथ श्रुतलेख का अभ्यास भी आवश्यक समझा जाता है। परन्तु इस अभ्यास का जो ढंग हमारे विद्यालयों में प्रायः देखने में आता है, वह सन्तोषजनक नहीं। इसी कारण उससे कोई विशेष लाभ होता नहीं दिखाई पड़ता। वास्तव में अधिकांश भाषा-शिक्षकों को श्रुतलेख की उपयोगिता का ठीक-ठीक ज्ञान ही नहीं है। अतएव प्रस्तुत लेख में श्रुतलेख की उपयोगिता पर विचार किया जायगा।

श्रुतलेख का व्यवहार हमारे विद्यालयों में अंग्रेजी की शिक्षा के साथ-साथ आया है। इसी से हमारे यहाँ इसके लिए कोई शब्द भी नहीं था। अब आवश्यकता पड़ने पर 'श्रुतलेख' या 'अनुलेख' शब्द गढ़ लिया गया है। उर्दू का अधिक बोलबाला रहने पर 'इमला' शब्द का प्रयोग होता था। अंग्रेजी की शिक्षा में श्रुतलेख का अभ्यास अधिकतर शुद्ध वर्ण-विन्यास (Spelling) सीखने के लिए होता था। अंग्रेजी भाषा का वर्ण-विन्यास ध्वन्यात्मक नहीं है। उसमें किसी शब्द की ध्वनि के साथ उसमें प्रयुक्त होने वाले वर्णों का सामञ्जस्य नहीं होता। प्रयुक्त वर्णों की ध्वनि के अनुसार शब्द का उच्चारण कुछ और होना चाहिए, परन्तु होता कुछ और है। उदाहरणार्थ 'नेबर' (Neighbour) शब्द में **न, ब, र** ध्वनियों के अतिरिक्त अनेक ऐसी ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण शब्द के उच्चारण के साथ नहीं होता। अर्थात् वे वर्ण शब्द में व्यर्थ ही समाविष्ट हैं। इसी प्रकार 'थ्रू' (Through) में **र** और **ऊ** के अतिरिक्त सभी ध्वनियाँ निरर्थक हैं। **ट** की ध्वनि देने वाले t और ह् की ध्वनि देने वाले h को मिला कर **थ** का उच्चारण होता है। अतएव अंग्रेजी भाषा में प्रत्येक शब्द का वर्ण-विन्यास जानना आवश्यक है। अभ्यास न होने पर अच्छे-अच्छे विद्वान् वर्ण-विन्यास की भूल कर बैठते हैं। यही कारण है कि अंग्रेजी भाषा की शिक्षा में श्रुतलेख के द्वारा वर्ण-विन्यास का अभ्यास कराया जाता है।

हिन्दी भाषा का वर्ण-विन्यास ध्वन्यात्मक है। इसमें शब्द का जैसा उच्चारण होता है अर्थात् जिन-जिन ध्वनियों का उच्चारण होता है उन-उन ध्वनियों के व्यंजक वर्ण उस शब्द में लिखे जाते हैं। अतएव हमारी भाषा में वर्ण-विन्यास की शिक्षा के लिए श्रुतलेख की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी की शिक्षा में श्रुतलेख को कोई स्थान ही नहीं मिलना चाहिए। हमारी भाषा ध्वन्यात्मक होते हुए भी कुछ कारणों से उसकी शिक्षा में श्रुतलेख आवश्यक होता है। हमारे ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्चारण में कभी-कभी इतना कम अन्तर ज्ञात होता है कि बहुत से विद्यार्थी लिखने में अशुद्धि कर देते हैं। वे प्रमादवश ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व का प्रयोग कर देते हैं। इसी प्रकार कुछ वर्णों का उच्चारण भी सभी लोग ठीक-ठीक नहीं कर पाते—जैसे **श**, **ष**, और **स** का उच्चारण प्रायः दूषित होता है। इन उच्चारणों को स्पष्ट करने एवं उच्चारण के अनुसार शब्द लिखने का अभ्यास कराने के लिए हिन्दी भाषा के शिक्षक को श्रुतलेख का अभ्यास कराना आवश्यक होता है। जब शिक्षक शुद्ध उच्चारण सहित वाक्य बोलता है तब विद्यार्थी उसे सुन कर एक ओर तो उसका शुद्ध उच्चारण करना सीखते हैं और दूसरी ओर उन ध्वनियों के द्वारा उसका शद्ध रूप व्यक्त करते हैं। इस प्रकार शब्दों के शुद्ध रूप सीखने के लिये श्रुतलेख का अभ्यास बड़ा उपयोगी होता है।

परन्तु हिन्दी भाषा के शिक्षक के लिए कुछ अन्य दृष्टियों से श्रुतलेख का अधिक महत्व है। श्रुतलेख के द्वारा पूर्वपठित शब्दों की बोध परीक्षा होती है। यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि श्रुतलेख के लिए पठित अवतरण ही देना चाहिए, अपठित अवतरण से श्रुतलेख लिखाने से अपरिचित शब्दों के आने और छात्रों द्वारा उनके अशुद्ध लिखे जाने का भय रहता है। एक बार जब कोई शब्द अशुद्ध लिखा जाता है तब मानस-पटल पर पड़ी हुई उसकी छाया शीघ्र नहीं मिटती। इससे शुद्ध शब्द का सीखना बहुत कठिन हो जाता है। कभी-कभी तो अशुद्ध लिखे हुए शब्द की छाप ऐसी अमिट हो जाती है कि शुद्ध शब्द की छाप उसके ऊपर पड़ती ही नहीं और लिखते समय बार-बार वही अशुद्ध शब्द आ जाता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि एक बार कोई चीज सीख लेने पर उसे भूलना इतना कठिन होता है कि पहली बार सीखने में जो प्रयत्न लगता है उसका बीस गुना प्रयत्न उसे भूलकर उसके स्थान पर दूसरा कुछ सीखने में लगता है। अतः छात्रों के मानस-पटल पर अशुद्ध शब्द की छाया पड़ना बहुत हानिकारक है। इसी से अपठित अवतरण से, जिसमें अपरिचित शब्दों का बाहुल्य हो, श्रुतलेख नहीं लिखाना चाहिए।

पठित अवतरण से जब श्रुतलेख बोला जाता है, तब छात्र अपनी स्मृति का उपयोग करते हैं और पठित शब्दों को शुद्ध रूप में लिखने का प्रयत्न करते हैं। यदि असावधानी अथवा प्रमादवश कोई छात्र किसी शब्द को अशुद्ध लिखता है तो उसे शुद्ध शब्द लिखने का अनेक बार अभ्यास कराना चाहिए। उचित तो यह है कि अधिकांश छात्रों द्वारा लिखे गए अशुद्ध शब्दों के शुद्ध रूप मोटे-मोटे अक्षरों में श्यामपट्ट पर लिखे जायँ और अध्यापक उन छात्रों से उसका कई बार शुद्ध उच्चारण कराए जिन्होंने अशुद्धि की है। मोटे-मोटे अक्षरों में लिखे हुए शब्द मानस-पटल पर अपनी अमिट छाप छोड़ देते हैं; फिर उच्चारण के साथ उनका साहचर्य हो जाने पर उनका रूप स्थायी हो जाता है। अतः शुद्ध शब्दों को सिखाने के लिए श्यामपट्ट का उपयोग बहुत लाभदायक होता है। इस प्रकार पठित अवतरणों के कठिन शब्दों को शुद्ध रूप में लिखने का अभ्यास कराने एवं बोध-परीक्षा के लिए श्रुतलेख का उपयोग करना लाभदायक होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुतलेख द्वारा छात्रों की श्रवणेंद्रिय और हाथ के स्नायुओं का सहयोग भी सिखाया जाता है। अध्यापक द्वारा बोला गया लेख एक ओर तो छात्र सुनता है और दूसरी ओर उसका हाथ उस लेख को लिखता है। यदि उसका ध्यान केवल एक ओर रहे अर्थात् यदि वह केवल सुनने में ही रह जाय तो लिखने में उसे विलम्ब होगा और यदि केवल लिखने की ओर ध्यान रहे तो वह ठीक से न सुन सकने के कारण पूरा अंश लिख नहीं सकेगा। अतः दोनों इन्द्रियों का सहयोग आवश्यक होता है। अध्यापक को चाहिए कि आरम्भ में बड़ी सावधानी से वह इन दोनों इन्द्रियों में सहयोग करने का अभ्यास करावे। इसका तात्पर्य यह है कि आरम्भिक कक्षाओं में श्रुतलेख के लिए बहुत छोटे-छोटे पद अथवा केवल एक दो शब्द एक साथ बोले जायँ जिससे बच्चे उन्हें सुनकर ठीक-ठीक लिख सकें। इस प्रकार उनकी स्मरण-शक्ति तीव्रतर होती जायगी और वे अधिक बड़े शब्द या शब्द समूह सुनकर स्मरण रख सकेंगे। जब उनका यह अभ्यास और आगे बढ़ जाता है तब एक ओर तो उनकी श्रवणेन्द्रिय सुनती रहती है और दूसरी ओर उनका हाथ लिखता रहता है। अर्थात् सुनने और लिखने की क्रियाएँ साथ-साथ होती रहती हैं। व्यावहारिक जीवन में इस प्रकार अभ्यास कितना उपयोगी होता है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। अतएव भाषा के शिक्षक को श्रुतलेख लिखाते समय यह उद्देश्य ध्यान में रखना चाहिए।

श्रुतलेख का अभ्यास कराते समय यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि शुद्ध लिखने के साथ ही शीघ्र लिखने का भी अभ्यास बढ़े। छात्र ज्यों-ज्यों ऊँची कक्षाओं में जाते हैं, त्यों-त्यों उनके लिखने की गति बढ़नी चाहिए। अतएव श्रुतलेख का एक उद्देश्य त्वरालेखन भी होता है। अभ्यास हो जाने पर बहुत शीघ्रता पूर्वक श्रुतलेख लिखा जा सकता है। इस संबंध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आरंभ में शीघ्र लेखन की ओर अधिक झुकाव नहीं होना चाहिए क्योंकि शुद्धलेखन ही श्रुतलेख का मुख्य उद्देश्य है। जब छात्रों को शुद्ध लिखने का अभ्यास हो जाय तभी उनकी लेखन-गति बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि शीघ्रलेखन में अक्षरों का स्वरूप न बिगड़ने पावे। यह तो स्वाभाविक है कि शीघ्र लिखने में अक्षर सुन्दर नहीं हो सकते। फिर भी कुछ सीमा तक अक्षरों का स्वरूप इतना नहीं बिगड़ता कि वह देखने में भद्दा लगे अथवा सुवाच्य न हो। परन्तु उस सीमा का उल्लंघन करने पर अक्षर दुर्वाच्य हो जाते हैं। उनकी आकृति इतनी विकृत हो जाती है कि वे सरलता से बाँचे नहीं जा सकते। अतएव अस्पष्टता के दोष से बचने के लिए अक्षरों की आकृति पर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

श्रुतलेख लिखाने के साथ साथ अनुशासन की भी शिक्षा हो जाती है। श्रुतलेख लिखाते समय पूर्ण शान्ति होना आवश्यक है। कक्षा में शब्द होने पर श्रुतलेख में बाधा पड़ेगी। बोला हुआ अवतरण यदि सुनाई नहीं पड़ेगा तो छात्र उसकी आवृत्ति कराना चाहेंगे और बीच बीच में रोक कर अध्यापक के कार्य में बाधा पहुँचाएँगे। अतः श्रुतलेख बोलते समय पूरी कक्षा में सन्नाटा होना चाहिए। पूर्ण शान्ति रहने पर ही अध्यापक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा एक बार बोला हुआ अंश सबको ठीक ठीक सुनाई देगा और उसकी आवृत्ति की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

श्रुतलेख लिखाने का ढंग भी ध्यान देने योग्य है। ऊपर कहा जा चुका है कि पठित अंश में से ही श्रुतलेख लिखाना चाहिए। यदि किसी अपठित अंश को लिखाना हो तो एक दिन पूर्व छात्रों से कह देना चाहिए कि कल अमुक पाठ में से श्रुतलेख लिखाया जायगा जिससे छात्र उसे पढ़कर तैयार हो जायँ। छोटी कक्षाओं में बहुत कठिन शब्दों को पहले श्याम पट्ट पर लिख देना चाहिए जिससे छात्र उन शब्दों के अशुद्ध रूप न लिखें। श्रुतलेख लिखाने योग्य अवतरण के वाक्यों को छोटे छोटे खंडों में इस प्रकार तोड़ लेना चाहिए कि एक एक खंड के शब्दों का परस्पर संबंध हो। असंबद्ध शब्दों को एक साथ नहीं जोड़ना चाहिए। इस प्रकार कक्षा के योग्य छोटे या बड़े खंडों में वाक्यों को विभक्त करके एक बार संपूर्ण अवतरण उच्च स्वर से शुद्ध शुद्ध उच्चारण करते हुए पढ़ देना चाहिए और छात्रों को ध्यान से सुनने को कहना चाहिए। जब पाठ समाप्त हो जाय तब लिखने का आदेश देना चाहिए। लिखाते समय एक एक खंड धीरे धीरे बोलना चाहिए और एक के बाद दूसरा खंड बोलने में इतना विराम देना चाहिए जितने में वह अंश कक्षा के अधिकांश छात्रों द्वारा लिख लिया जाय। कुछ तीव्र गति से लिखने वाले छात्र तो उतने समय से पूर्व लिख लेंगे और कुछ छात्र जो मन्द गति से लिखने वाले होंगे पिछड़ जायेंगे। अध्यापक को औसत लड़कों की गति को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ना चाहिए। जिस छात्र का कुछ अंश छूट जाता है वह पीछे उसकी पूर्ति कर सकता है। अध्यापक को श्रुतलेख बोलने का इतना अच्छा अभ्यास होना चाहिए कि उसका स्वर एक बार ही सबको स्पष्ट सुनाई दे जाय और उसे दुहराने की आवश्यकता न पड़े। इस प्रकार जब संपूर्ण अंश लिखा दिया जाय तब एक बार उसकी पुनरावृति करनी चाहिए जिससे मन्दगति वाले छात्र अपने छूटे हुए अंशों की पूर्ति कर लें और जिन्होंने सुनने में भूल के कारण अथवा प्रमाद-वश कुछ अशुद्धि कर दी हो वे उसे शुद्ध करलें।

श्रुतलेख का संशोधन भी बड़ी सावधानी से होना चाहिये। छोटी कक्षाओं में अध्यापक द्वारा ही संशोधन का कार्य होना चाहिये। संशोधन के समय छोटी बड़ी प्रत्येक अशुद्धि पर ध्यान रखना चाहिये। **ब** और **व** का स्पष्ट अन्तर, अनुस्वार का ठीक स्थान पर लगाना, रेफ का शुद्ध प्रयोग, ह्रस्व-दीर्घ का ठीक ठीक प्रयोग इत्यादि का ध्यान रखना आवश्यक है। कभी-कभी कुछ छात्र संदिग्ध रूप लिख देते हैं; जैसे स्त्री को 'स्त्रि' लिख देते हैं। ऐसे संदिग्ध रूपों को बहुत सावधानी से शुद्ध करना चाहिये। संशोधन के पश्चात् अशुद्धियों का शुद्ध रूप लिखने को कहना चाहिये। प्रत्येक अशुद्धि का शुद्ध रूप बीस बार लिखाना आवश्यक है। शुद्ध रूप लिखते समय उच्च स्वर से शब्द का उच्चारण करना आवश्यक है। इससे शब्द लिखने की ओर ध्यान रहता है और स्मृति-पटल पर उसकी स्थायी छाप पड़ती है।

८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्रुतलेख एक उपयोगी अभ्यास है जिसके द्वारा भाषा की शिक्षा में बड़ी सहायता मिलती है। जितने प्रकार के लिखित अभ्यास हैं उनमें सबसे अधिक उपयोगी यही अभ्यास है। अतएव यदि अध्यापक उसकी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए उचित रीति से इसका उपयोग करे तो यह निश्चय है कि वह छात्रों को शुद्ध भाषा सिखाने में बहुत सफल होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवीन पाठ्यक्रम में हिन्दी का स्थान

गणेश प्रसाद सिंह

साधारण परिस्थितियों में किसी देश का शिक्षा सम्बन्धी पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय उस देश की मातृभाषा का भी उसमें स्थान सीमाबद्ध करना उतना ही विचित्र तथा परिहासात्मक है जितना कि किसी परिवार में माता या गृहिणी के स्थान, दायित्व, कर्त्तव्य आदि को सीमाबद्ध करना। जिस प्रकार परिवार की व्यवस्था माता पर निर्भर है, उसी प्रकार किसी देश की शिक्षा का विकास वहाँ की मातृभाषा पर निर्भर है। जिस प्रकार धन-धान्य तथा विभिन्न आमोद-प्रमोद के साधन होते हुये भी माता-रहित अथवा माता-पदच्युत-परिवार के कतिपय संस्कार छिन्न-भिन्न हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार मातृभाषा के पदच्युत अथवा तिरस्कृत होने पर, देश की शिक्षा की सांस्कृतिक प्रवृति, चाहे उसमें (देश में) बड़ी-बड़ी शिक्षा-संस्थाएँ, बड़ी-बड़ी शिक्षा-योजनाएँ, बड़े-बड़े विद्वान, योद्धा, राजनीतिज्ञ आदि क्यों न हों, यदि पूर्णतया छिन्न-भिन्न नहीं तो अस्त-व्यस्त अवश्य ही हो जाती है। गुणवती माता अपने पति की अनुपस्थिति में परिवार का लालन-पालन, गुणवान परन्तु पत्नी-हीन पिता की अपेक्षा, अधिक सफलता से कर लेती है। पिता का अधिक सम्बन्ध बाहर से होता है और माता का घर से। हम लोग बाहर काम करते हैं और घर में आकर विश्राम करते हैं तथा कमरों में अकेले-अकेले हो जाते हैं—उस समय घर की उचित व्यवस्था होने पर ही हमें शान्ति मिल सकती है और हम सुख से सो सकते हैं। बाहर के लिये यदि पिता के पथ-प्रदर्शन में कोई त्रुटि है तो अन्य बहुत से लोग हमें प्रभावित करते रहते हैं, पर घर के लिये यदि माता के पथ-प्रदर्शन में कोई त्रुटि रह गई तो सुधरने का अवसर प्रायः नहीं मिलता। हम बाहर सब से सुविधापूर्वक हिल-मिल सकते हैं पर सब के घर नहीं जा सकते। ठीक यही विशेषता मातृभाषा के सम्बन्ध में भी है।

किसी देश की मातृ-भाषा यदि सुविकसित है और उसकी राजनीतिक परिस्थितियाँ क्षुब्ध हैं तो वहाँ के नागरिकों का जीवन, उस देश के नागरिकों से, जहाँ की मातृभाषा तो अव्यवस्थित है और राजनीतिक परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, अच्छा होगा। हमारा जीवन सुखी उस अनुपात से नहीं होता जिस अनुपात से हमारे साधन तथा वैभव बढ़ते हैं, प्रत्युत उस अनुपात से होता है जिससे कि हम प्रस्तुत तथा उपलब्ध सामग्री का उचित सदुपयोग करते हैं। सदुपयोग की परिभाषा देश, काल और पात्र के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। मातृभाषा तथा तत्सम्बन्धी साहित्य का विकास प्रायः अपनी ही परिस्थितियों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुकूल होता है—फलतः सदुपयोग की जो परिभाषा हमें अपने साहित्य में मिलती है वही हमारे लिये हितकर तथा उपयुक्त है। राजनीतिक क्रीड़ाङ्गनों से हम जीत कर अथवा हार कर जब लौटते हैं तो हमारा साहित्य अवसरानुकूल हमें क्रम से नियन्त्रित करता है अथवा सान्त्वना देता है। अपनी जीत से न तो हम फूल कर कुप्पा ही होने पाते हैं और न तो अपनी हार से हतोत्साहित होकर फिसलने ही पाते हैं। स्मरण रहना चाहिए कि राजनीतिक क्षेत्र में असीमित ख्याति तथा अन्य भाषाओं और साहित्यों का चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी यदि हम मातृभाषा से उदासीन रहे हैं, तो हमारे जीवन में प्रायः अनेक ऐसे अवसर आयेंगे जब हम अपने को उसी प्रकार विवश तथा चिन्तित पायेंगे जिस प्रकार विभीषण ने अपने को 'राम-भरत-मिलाप' के अवसर पर पाया था।

शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा के अनेक उद्देश्य बताए हैं। उनको हम यदि चाहें तो इस रूप में भी ले सकते हैं—भाव-सृजन; भाव-प्रकाशन; भाव-सञ्चय तथा भाव-तुलना। भाव-सृजन में मातृभाषा का विशेष महत्व होता है। यों तो बच्चा पृथ्वी पर गिरते ही रो उठता है और एक प्रकार से एक भाव का सृजन तथा प्रकाशन साथ ही साथ हो जाते हैं। आँख, हाथ आदि के संकेतों द्वारा भी हम बहुत कुछ करते हैं—पर इन सबको हम समुचित-भाव के अन्तर्गत नहीं ले सकते। संकेतों से कुछ धारणा तो हो जाती है पर उनसे हमें मात्रा, क्रम, आधार आदि का बोध नहीं होता। ये सब हमें तभी स्पष्ट होते हैं जब उनको हम किसी भाषा के माध्यम से सोचते हैं। किसी प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु को देखते ही हमारे मन में अनुकूल अथवा प्रतिकूल विकार होने लगते हैं पर इनकी तीव्रता, शिथिलता आदि हमें तभी स्पष्ट होती हैं जब हम उपयुक्त शब्दों से उनका नाम-करण करते हैं। मातृ-भाषा की शब्दावली अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल विकसित होती है अस्तु उसके माध्यम से जो भाव बनते हैं उनमें सरलता, सुगमता, स्वाभाविकता आदि होती हैं। कई भाषाओं के जानने वाले व्यक्ति प्रायः मातृ-भाषा में ही स्वप्न देखते हैं। '△' को हिन्दी में त्रिभुज तथा अंग्रेजी में ट्रैंगिल कहते हैं। यों तो छात्रों को रटा दिया जाता है—पर जहाँ तक उचित भावों के सृजन का प्रश्न है—इसमें कठिनाइयाँ आ सकती हैं। हिन्दी में नामकरण 'भुजाओं' को लक्ष्य करके किया गया है पर अंग्रेजी में 'कोणों' के आधार पर है। यह अन्तर यों ही नहीं आ गया है—इसके पीछे कोई न कोई सांस्कृतिक रहस्य होगा। बच्चों के कोमल मस्तिष्क में इस अन्तर के फलस्वरूप संघर्ष हो सकता है।

भावों का सृजन भौगोलिक परिस्थितियों पर भी निर्भर होता है। प्रायः ठण्डे देशों में भावोद्रेक देर में होता है और देर में मिटता है—उसका प्रवाह अधिक तीव्र नहीं होता। गर्म देश में भावोद्रेक शीघ्रता से होते हैं और शीघ्रता से मिटते हैं। मातृ-भाषा की लिपियों तथा स्वर-व्यञ्जन की रूप-रेखा इन्हीं भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल रहती है। जितना प्रवाह संस्कृत तथा हिन्दी में है उतना अंग्रेजी में नहीं है। संस्कृत और हिन्दी में हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस शीघ्रता से बोल सकते हैं, उस शीघ्रता से अंग्रेजी में नहीं बोल सकते। अंग्रेजी को प्रायः चबा-चबा कर बोला जाता है। किसी पदार्थ को देखने पर एक भारतवासी के मन में जो भाव उठेंगे उनका व्यवस्थित तथा स्वाभाविक नामकरण अंग्रेजी भाषा में कदापि नहीं हो सकता। साथ ही, भारतवर्ष में रहते हुए यदि कोई उर्दू भाषा-भाषी अपने भावों का नामकरण अरबी लिपि के माध्यम से करता है तो उसमें वह स्वाभाविकता कदापि न आएगी जो कि अरब देश में रहने पर आती। ये अन्तर सूक्ष्म से सूक्ष्म हो सकते हैं—पर होते हैं अवश्य। भौगोलिक परिस्थितियों के भिन्न होने पर लिपियों के उच्चारण तथा उपयोगिता में अन्तर आ जाता है। फलतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी देश के नागरिकों के भावों का उचित तथा स्वाभाविक सृजन केवल उस भाषा तथा लिपि के माध्यम से सम्भव है जो वहाँ की मातृ-भाषा हो और वहाँ की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप धीरे-धीरे वहीं पर विकसित हुई हो।

भाव-सृजन के उपरान्त भाव-प्रकाशन का प्रश्न उठता है। भावों की शुद्धता, स्वाभाविकता, उपयोगिता आदि बहुत अंशों में उसके उचित प्रकाशन में है। कभी कभी व्यक्ति विशेष के मन में भाव-सृजन बहुत सुन्दर होता है पर उसका उचित प्रकाशन न होने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। निस्सन्देह भाव प्रकाशन पर वाणी की मधुरता आदि का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। भाव-प्रकाशन के दो रूप हैं :—मौखिक तथा लिखित। कुछ लोग मौखिक-प्रकाशन में सिद्धस्त होते हैं और कुछ लिखित में; ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं जो दोनों में समान रूप से सफल हों। पर इन दोनों के लिये भाषा की सजीवता मुख्य है। प्रभावोत्पादकता बहुत अंशों में भाषा सौष्ठव पर ही निर्भर रहती है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि भाव की जब अधिकता होती है तो भाषा साथ दे ही जाती है, उदाहरणार्थ वे 'कबीर' को लेते हैं। पर यह धारणा बहुत खरी नहीं उतरती। भाषा की अस्थिरता के ही कारण हम कबीर की अनेक उक्तियों को समझ नहीं पाते हैं और उन्हें 'रहस्यवाद' के मत्थे पटक कर अपना पिण्ड छुड़ाते हैं। किसी अन्य भाषा में आत्म-प्रकाशन करते समय हमारी वाणी तथा लेखनी दुविधा में पड़ कर प्रायः रुकती जाती है। जिस भाषा के माध्यम से हमें बोलना है या लिखना है, उसी से सम्बन्ध रखने वाली संस्कृति से भी हम उस समय प्रभावित रहते हैं—फलतः संस्कृति तथा संस्कारों की भिन्नता से हम चौंक उठते हैं। भारतीय संस्कृति में गुरुजनों के चरण छूकर हम उनके आशीर्वाद के लिये लालायित रहते हैं पर पाश्चात्य संस्कृति में उनसे हाथ मिलाकर उनकी शुभकामनाओं को प्राप्त करते हैं। छात्रों को इस प्रसङ्ग पर कुछ बताते समय अथवा उनके पथ-प्रदर्शन के लिये कुछ लिखते समय प्रत्येक सहृदय वक्ता अथवा लेखक के मन में एक दुविधा, एक संघर्ष, चाहे कितना ही क्षणिक तथा सुप्तावस्था में क्यों न हो परन्तु, अनिवार्य है।

भाव-सञ्चय को हम सुविधापूर्वक साहित्य-रचना कह सकते हैं। भाव को हम विचार की कसौटी पर कसते हैं और उसे खरा उतरने पर उसे स्थायी रूप देते हैं। विचार का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार एक ओर अपनी व्यक्तिगत धारणा या भाव और दूसरी ओर समाज हैं। भाव-सञ्चय के लिये विचारों को समाजानुकूल होना सर्वदा आवश्यक नहीं होता। ऐसा होने पर तो विकास, क्रान्ति आदि का, जो इतने आवश्यक हैं, मार्ग ही रुक जाएगा। पर उन्हें अनुकूल नहीं तो प्रतिकूल अवश्य होना चाहिये। दूसरे शब्दों में हमारे विचारों को समाज से ही सम्बन्धित होना चाहिये, चाहे उनका दृष्टिकोण प्रतिकूल ही क्यों न हो। प्रस्तुत समाज की त्रुटियाँ बिना प्रतिकूल चित्रण के स्पष्ट तथा प्रकट नहीं हो पातीं। हमारे विचारों की पुष्टि उदाहरणों से होती है और उपयुक्त उदाहरण हमें अपनी ही भाषा के साहित्य में स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते हैं। वे समाज के सभी संभ्रान्त व्यक्तियों को विदित होते हैं। हमारे धार्मिक ग्रन्थों की अन्तर्गत-कथाओं की प्रायः खिल्लियाँ उड़ाई जाती हैं—यद्यपि प्रत्येक धर्म की पुस्तकों में विचित्र से विचित्र कथायें मिलती हैं। हँसने वाले जान-बूझ कर ऐसा नहीं करते, प्रत्युत एक, दूसरे की कथाओं को सुनकर हँसने के लिये स्वभावतः विवश होते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि जो भाव-सञ्चय अपनी मातृ-भाषा के माध्यम से होगा उसमें क्रम तथा स्वाभाविकता के लिये प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। कोई विद्वान अन्य भाषाओं की ऐतिहासिक तथा समालोचनात्मक रचनाओं में तो प्रयत्न करने पर सफल हो सकता है पर उन भाषाओं से सम्बन्धित समाज-संस्कार के क्षेत्र में उसे निश्चित रूप से हताश होना पड़ेगा।

भाव-तुलना से तात्पर्य है विभिन्न भाषाओं तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले साहित्यों और समाजों की मूल और मुख्य प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन करना। वर्तमान काल में विज्ञान ने समस्त संसार को मिला दिया है। यह एक प्रकार से अनिवार्य हो गया है कि हम अपने दृष्टिकोण को (राष्ट्रीय होने के साथ-साथ) अन्तर्राष्ट्रीय भी बनाते रहें। इस प्रसङ्ग के विचार-विनिमय भी अपनी मातृभाषा में ही हमारे लिए सुलभ और सुगम होंगे। एक मूल आधार पर अवलम्बित होकर हम दूर-दूर देशों का भ्रमण कर सकते हैं और फिर वहीं लौटकर उस पर मनन कर सकते हैं। यदि एक भारतवासी (यद्यपि वर्त्तमान परिस्थितियों में वह ऐसा करने के लिये कुछ समय तक विवश है) प्राचीन संसार का इतिहास अंग्रेजी में लिखता है तो सम्भव है कि उससे संसार का कुछ कल्याण हो जाय, पर यदि वह संसार के विभिन्न पारिवारिक-जीवन का विकास अंग्रेजी में लिखे तो उस रचना से न तो भारतवर्ष का कल्याण होगा और न तो किसी अन्य देश का। उसकी विद्वत्ता के कारण उसकी रचना में कहीं-कहीं सुन्दर कल्पनाएँ देखने को मिल सकती हैं पर संस्कार-मूलक और संस्कार-पोषक क्रमिक भावनाओं का सर्वथा अभाव रहेगा। यदि वह उपर्युक्त वर्णन हिन्दी में करता है तो हमारे सामने एक ऐसा चित्र उपस्थित होगा जिसमें भारतीय-पारिवारिक-जीवन के विकास के साथ संसार के अन्य देशों के पारिवारिक जीवन के विकासों की समुचित तुलना मिलेगी। अंग्रेजी भाषा में यदि हम लिखेंगे तो हमें उस संस्कृति के माध्यम से अग्रसर होना पड़ेगा और वह हमारे लिये कठिन ही नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्युत असम्भव सा है। उपयोगिता के दृष्टिकोण से भी यदि हम इन कार्यों को अपनी मातृ भाषा में करते हैं तो एक ओर अपने साहित्य-भण्डार की वृद्धि होगी और दूसरी ओर अपने समाज के अधिक से अधिक लोग हमारे प्रयत्नों से लाभ उठाएँगे। यदि रचना वास्तव में महत्वपूर्ण है तो संसार की विभिन्न भाषाओं में उनका अनुवाद हो ही जायगा।

मातृ-भाषा हिन्दी की दशा वास्तव में बड़ी दयनीय रही है। लगभग एक सहस्र वर्ष से या यों कहा जाय कि अपने शैशव काल से ही इसे राज-भाषा होने से वञ्चित कर दिया गया। छोटे-मोटे देशी दरबारों में तथा अपने भाषियों के झोपड़ों में यह अपना समय बिताने लगी। इन परिस्थितियों में कोई व्यक्ति या तो आत्म-हत्या कर लेता है अथवा भगवान की शरण में जाता है। आत्म-हत्या का भारतीय संस्कृति में विशेष स्थान नहीं-फलत: हिन्दी को भी भगवान की शरण में जाना पड़ा। यही कारण है कि आध्यात्मिक, दार्शनिक, नैतिक विचारावली की तो इसके साहित्य में प्रचुरता है परन्तु व्यावहारिक स्पष्टीकरण के लिये, जो इतने आवश्यक हैं, उपयुक्त शब्द इस भाषा में नहीं मिलते। इस प्रस्तुत स्वतन्त्रता के पूर्व ऊँची-ऊँची कक्षाओं में भी हिन्दी का पठन-पाठन होता था पर उसका दृष्टिकोण गौण ही रहा। प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालाओं में, जिनका पाठ्यक्रम प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में, शिक्षा-विभाग द्वारा निर्धारित किया जाता था, मातृभाषा हिन्दी की दशा अस्त-व्यस्त थी। हिन्दी-अध्यापकों को दीक्षित होना आवश्यक नहीं समझा जाता था। अध्यापन और अध्ययन का स्तर उपयुक्त नहीं था। अब परिस्थितियाँ बिलकुल पलट गई हैं—बहुत कुछ वाद-विवाद के उपरान्त हिन्दी को समस्त भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा घोषित कर दिया गया है। प्राथमिक तथा माध्यमिक कक्षाओं में हिंन्दी, किसी न किसी रूप में, अनिवार्य कर कर दी गई है। अन्य प्रान्तों में भी हिन्दी का पठन-पाठन आरम्भ हो गया है। किसी व्यक्ति, जाति, देश आदि में जब तक व्यक्तिगत विशेषताएँ न हों तब तक केवल वैधानिक सुविधाओं के आधार पर वह प्रतिष्ठित तथा उपयोगी नहीं हो सकता। यही सिद्धान्त इस समय हिन्दी के सम्बन्ध में भी चरितार्थ हो रहा है। नवीन पाठ्य-क्रम में हिन्दी का स्थान निर्धारित करते समय एक ओर तो यह ध्यान रखना है कि उपर्युक्त परिस्थितियों के फलस्वरूप हमारी संस्कृति, भाषा तथा साहित्य को जो अपार क्षति हुई है उसे पूरा करना है और दूसरी ओर यह देखना है कि साधारण परिस्थितियों में किसी देश की मातृभाषा तथा राष्ट्र-भाषा वहाँ की शिक्षा में जो स्वाभाविक योग देती हो वह हमारी शिक्षा में हिन्दी भी सुगमता पूर्वक दे सके।

सर्व प्रथम हमें हिन्दी की व्यावहारिक शब्दावली को स्वाभाविक रूप से बढ़ाना है। यह कार्य एक दिन अथवा एक वर्ष में सम्भव नहीं। कुछ विद्वान संस्कृत से कठिन शब्दों को लेते हैं, कुछ सन्धि तथा समास की सहायता से नए शब्द बना रहे हैं। ठीक ही है—पर ऐसा करने में यह ध्यान रहना चाहिए कि हम उतने ही और उन्हीं शब्दों को संस्कृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से लें जिनको कि वर्त्तमान हिन्दी सुविधापूर्वक पचा सके। देश, काल और पात्र का ध्यान रखते हुए हिन्दी की पाचन-शक्ति को हमें पग-पग पर टटोलते रहना चाहिए। साथ ही भारत की अन्य प्रचलित और सुविकसित मातृभाषाओं से (बङ्गाली, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू, उर्दू, पञ्जाबी आदि से) उपयुक्त शब्दों को लेने में हमें हिचकना नहीं चाहिए। हिन्दी में शासन-सम्बन्धी तथा विज्ञान-सम्बन्धी शब्दों की न्यूनता है। नैपाली, मराठी तथा अन्य दक्षिणी भाषाओं से सम्भवत: हमें शासन-सम्बन्धी शब्द मिल सकते हैं। छत्रपति शिवाजी से लेकर पेशवाओं तक मरहठा-शासन-प्रबन्ध तथा मैसूर का (हैदर अली और टीपू) का शासन प्रबन्ध भारतीय भाषाओं में होता था। सम्भवत: उनसे हमें बहुत से शब्द मिल सकते हैं। विज्ञान का चमत्कार अंग्रेजों के समय में हुआ और बङ्गाल, मद्रास तथा बम्बई उनके सम्पर्क में पहले आए अस्तु बङ्गाली भाषा तथा गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू आदि में कुछ शब्द हमें मिल सकते हैं। धीरे-धीरे इन शब्दों की तालिकाएँ कक्षानुसार तथा अवस्थानुसार बननी चाहिए। ऐसी कहानियाँ तथा वाद-विवाद-सामग्री कक्षानुसार तैयार कराई जाँय, जिनमें जिस भाषा के शब्द लेने हों उसी के भाषियों की कृषि, उद्योग-धन्धे, रहन-सहन आदि का सरल, स्वाभाविक परन्तु प्रभावोत्पादक चित्रण हो। इससे छात्र भाषा, संस्कृति, भूगोल आदि सभी कुछ एक साथ सीखेंगे। कभी-कभी मुख्य पाठ्य-पुस्तक में भी दो-एक पाठ इसी प्रकार के हो सकते हैं। पर यह कार्य शीघ्रता का नहीं है—इसे सावधानी तथा तत्परता से पूरा करना है। क्रमश: बढ़ने से प्रभाव स्वाभाविक रूप से स्थायी तथा उपयोगी होता चलेगा।

दूसरे, हमें बहुत कुछ हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विरामचिन्हों के बारे में विचार करना है। लगभग समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य में विराम-चिन्हों तथा विरामों का वही क्रम होता है जो कि अंग्रेजी भाषा में है। ऊपर इसका संकेत किया गया है कि प्रत्येक भाषा का प्रवाह तथा आरोह-अवरोह अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल विकसित हुआ रहता है। अंग्रेजी के लगभग सभी विरामों को हिन्दी के ऊपर भी केवल इसलिये लाद देना कि यह भी एक भाषा है— स्वाभाविक नहीं दीखता। प्रौढ़ लेखकों, वक्ताओं, साहित्यकारों, कवियों आदि के ऊपर इस विषाक्त प्रणाली का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट नहीं होता पर अबोध छात्रों के उच्चारण तथा पठन-प्रवाह को बहुत धक्का पहुँचता है। छात्रों के स्वर का अपनी भाषा और लिपि के अनुकूल स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता। छात्रों को पढ़ते समय प्राय: 'अँ……' 'ऊँ……' आदि जिन कारणों से होते रहते हैं उनमें सम्भवत: मुख्य यही है कि उन्हें विश्राम या विराम उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं मिलता। इसमें भी हमें माया-वश शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। बड़े-बड़े विद्वानों तथा शिक्षा-शास्त्रियों को इस पर विधिवत् विचार करना चाहिए और यदि उचित जान पड़े तो इन विरामों में अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उचित हेर-फेर किया जाय। ऐसा होने पर जितनी पुस्तकें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यावाचस्पति ... हिन्दी द्वारा गुरुकुल कांगड़ी पुस्तकालय को भेंट

बच्चों की शिक्षा के दृष्टिकोण से लिखी जाँय उन सबमें विरामों के प्रयोग सुधरे हुए ढङ्ग से किए जाँय। प्राथमिक और माध्यमिक कक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों को तो सम्भवत: अवश्य ही ठीक कर देना है।

तीसरे, हमें अपनी लिपि के सुलेख के बारे में सावधान होना है। अंग्रेजी और उर्दू के सम्पर्क से आजकल हिन्दी-सुलेख बिलकुल तिरस्कृत सा है। अंग्रेजी-कलम से प्राय: सभी छात्र हिन्दी लिखते हैं। शीघ्रता से लिखने की होड़ में वे प्राय: अक्षरों को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। देव नागरी लिपि का विकास प्राय: देवताओं की पूजा के लिये तैयार की गई विभिन्न प्रकार की वेदियों के आधार पर हुआ है। यह लिखना आवश्यक नहीं कि पूजा के सभी कार्यों को हम किस सावधानी तथा तत्परता से करते हैं। देवनागरी लिपि को जितनी ही सावधानी तथा तत्परता से हम लिखेंगे उतनी ही उसकी सांस्कृतिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी उपयोगिता बढ़ेगी। देश के अनेक शिक्षा-शास्त्री तथा विद्वान इस समय लिपि-सुधार में लगे हुए हैं। यह कहना कठिन है कि सुधार की आवश्यकता इन लिपियों की है अथवा हमारे दृष्टिकोण की। सम्भवत: देवनागरी लिपि की सुलेख सम्बन्धी विशेषता के बारे में लोगों में मत भेद न होगा। प्राथमिक तथा माध्यमिक कक्षाओं के हिन्दी-पाठ्य-क्रम में जहाँ हम और सुधार करना चाहते हैं वहाँ सुलेख को भी विशेष महत्व देना है। यह कहा जा सकता है कि सुलेख का तिरस्कार कभी भी नहीं किया गया। कुछ भी हो वर्तमान सयय में हिन्दी की लिखावट का स्तर बहुत गिर गया है। यही परिस्थिति लिखने की अशुद्धियों के बारे में भी है। ऊँची-ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थी भी ऐसी त्रुटियाँ करते हैं जिनसे ग्लानि होती है। प्राथमिक कक्षाओं में जो धारणाएँ तथा प्रवृत्तियाँ छात्रों के मन में अङ्कुरित हो जाती हैं, ऊँची कक्षाओं में प्राय: उनका पोषण और विकास ही हो पाता है। उनका सुधार नहीं हो पाता। फलत: सुन्दर तथा शुद्ध लिखावट पर हमें विशेष ध्यान देना है।

चौथे, हमें भाषा के रूप पर भी ध्यान देना है। हिन्दी हमारी मातृ-भाषा और राष्ट्र-भाषा है पर इसमें प्रादेशिक तथा स्थानीय 'बोलियों' की भरमार है। कहा भी जाता है कि हमारे यहाँ 'बानी (बोली) और पानी' कोस-कोस अर्थात् थोड़ी-थोड़ी दूर पर बदलते रहते हैं। इस कठिनाई का सामना भी बड़ी सावधानी से हमें करना है। प्राथमिक और माध्य-मिक कक्षाओं के अध्यापकों का दायित्व इस दृष्टिकोण से बहुत बड़ा है। निश्चय है कि छात्र अपने भावों का प्रकाशन अपनी 'बोली' में करेगा। यदि उसको ऐसा बोलने से रोका जायगा तो उसकी शिक्षा और उसके संस्कार असम्भव हो जाँयगे। उसके भावों का विकास हो ही नहीं पाएगा। अध्यापक को चाहिए कि छात्रों की बातों को उनकी 'बोली' में सुनें पर अपनी व्याख्या तथा अपने उत्तर शुद्ध भाषा में दें। पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में छात्रों की घरेलू 'बोली' का तिरस्कार अथवा उपहास न होने पाये, ऐसा होने पर छात्र झेंपू हो जायेगा और फिर अपने भावों को वह कभी भी कक्षा के सामने प्रकट न होने देगा। इसके विपरीत, कभी-कभी घरेलू 'बोलियों' को अभिनय,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाद-विवाद, समाचार-वितरण आदि के प्रसङ्ग में विशेष रूप से महत्व देना चाहिए। कभी कभी प्रश्न तो 'बोलियों' में कराये जायँ और उनके उत्तर शुद्ध तथा सरल साहित्यिक भाषा में और कभी-कभी प्रश्न शुद्ध भाषा में और उत्तर 'बोलियों' में लिए जाँय। इन अभ्यासों से छात्र धीरे-धीरे तथा स्वाभाविक और स्थायी रूप से अपनी घरेलू 'बोली' के ही माध्यम से शुद्ध तथा साहित्यिक भाषा को ग्रहण करता जायगा। ग्रामीण पाठशालाओं में कृषि सम्बन्धी तथा नगर की पाठशालाओं में उद्योग तथा व्यवसाय सम्बन्धी सरल विषय लिए जायँ और छात्रों को 'वादी' तथा 'प्रतिवादी' दो वर्गों में बांट दिया जाय और कहा जाय कि एक वर्ग 'बोली' में अपने विचार प्रकट करे और दूसरा शुद्ध भाषा में। दूसरे अवसर पर क्रम और वर्ग को बदल दिया जाय। इस प्रकार के कार्य और रोचक होंगे। यथासम्भव लिखित कार्य बोलियों में न कराए जायँ। सभी लिखित कार्य शुद्ध भाषा में होने चाहिए। लिखित कार्य यदि बोलियों में किये जाएँगे तो उनसे लाभ की अपेक्षा हानियाँ अधिक होंगी।

पाँचवें, हमें व्याकरण सम्बन्धी समस्या पर भी ध्यान देना है। पिछले बीस वर्षों से गणित और व्याकरण को, अपेक्षाकृत, कम महत्व दिया जाने लगा है। कुछ कहानी-लेखकों, उपन्यासकारों, कवियों आदि ने व्याकरण के नियमों से अपने को यथाशक्ति मुक्त करने में गौरवान्वित समझा। ब्रजभाषा-क्षेत्र, पश्चिमी अवधी-क्षेत्र, पूर्वी अवधीक्षेत्र, भोजपुरी-क्षेत्र आदि कई क्षेत्रों में हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्र विभक्त है। प्रत्येक क्षेत्र की विशेषताएँ हैं। उनमें सामञ्जस्य लाना व्याकरण के नियमों द्वारा ही सम्भव है। उपर्युक्त अभ्यासों द्वारा हम छात्रों को उनकी ही बोलियों के माध्यम से उन्हें शुद्ध भाषा सिखा सकते हैं। पर उन अभ्यासों से सभी दृष्टिकोणों की पूर्ति न हो सकेगी। कहीं-कहीं हम छात्रों को कुछ व्याकरण सम्बन्धी नियमों को भी समझाने के लिये विवश होंगे। बनारस के आस-पास तथा उससे पूर्व भोजपुरी में 'ने' का सर्वथा बहिष्कार होता है। वहाँ के शिक्षित लोग प्रायः कहते हैं 'वह कहा कि मैं जाऊँगा'। दूसरी समस्या इस क्षेत्र की 'लिंग' सम्बन्धी है। इधर लोग बहुत से प्रचलित शब्दों को स्त्रीलिंग मान कर प्रयोग करते हैं। इस ओर 'जाड़ा', 'डर' आदि को धड़ल्ले से लोग स्त्रीलिंग मानते हैं। भारतीय भाषाओं में 'लिङ्गानुशासन' की एक विचित्र परिस्थिति है। सम्भवतः गुजराती, मराठी आदि में संस्कृत की भांति तीन लिंग प्रयुक्त होते हैं, हिन्दी में दो और बंगाली में एक अथवा कोई नहीं। देश के पश्चिमी कोने से पूर्वी कोने तक चलने में यही हम पाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में कुछ न कुछ खटकने वाली बातें संस्कार का रूप धारण करती जा रही हैं। उनको हमें इन्हीं प्रारम्भिक कक्षाओं से यथासम्भव ठीक करना है। प्रत्येक कक्षा के लिये कुछ शब्दों की तालिकाएँ बना ली जायँ और उनकी गुत्थियाँ रोचक से रोचक ढंग में सुलझाई जाँय।

छठें, हमें विभिन्न पाठों के चुनाव को भी सावधानी से करना चाहिए। गद्य-पद्य, द्रुत-पाठ, रचना आदि सभी अपनी संस्कृति तथा आवश्यकताओं के अनुसार होने चाहिये। इसमें भी हमें अत्यन्त सावधानी से कार्य करना है—शीघ्रता करने से अर्थ का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनर्थ हो जायगा। मातृभाषा हिन्दी के स्तर को अचानक उठा देने के उमङ्ग में कुछ पाठ्य पुस्तकें कठिन शब्दों से भर गई हैं। द्रुत-पाठ सम्बन्धी पुस्तकों में भी ऐसे-ऐसे कठिन शब्दों की भरमार है कि पाँचवी-छठीं कक्षाओं के छात्र पाठ से प्रायः उदासीन हो उठते हैं। एक से आठवीं कक्षा तक की पाठ्य-पुस्तकों के दृष्टिकोण क्षेत्रीय होने चाहिए। आजकल पुस्तकें क्षेत्रों के अनुसार निर्धारित हैं पर इस वर्गीकरण का आधार सम्भवतः कतिपय सुविधाएँ हैं न कि संस्कृति, क्षेत्रीय उद्योग धन्धे आदि। फलतः उनसे अधिक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। इस ओर प्रयत्न करने की आवश्यकता है। क्षेत्रीय वीरों तथा वीराङ्गनाओं के चरित्र-चित्रण को महत्व देना चाहिए। फिर उनके दृष्टिकोण पूरक भी होने चाहिए। क्षेत्रीय विशेषताओं को महत्व देना तो 'पोषक'—प्रयत्न मान लिया जाय और क्षेत्रीय कमियों की पूर्ति करने को 'पूरक'—प्रयत्न माना जाय। उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी भाग में गेहूँ तथा पूर्वी भाग में गन्ना विशेष रूप से उपजते हैं। पश्चिमी क्षेत्र की पाठ्य-पुस्तकों में कुछ महत्वपूर्ण बातें गन्ने के बारे में दी जायँ और पूर्वी क्षेत्र की पाठ्य-पुस्तकों में गेहूँ के बारे में। अब हिन्दी राजभाषा हो गई है। पहले इसे लगभग हिन्दू ही पढ़ते थे पर अब सभी वर्गों के लोग पढ़ने लगे हैं। फलतः ऐसी कविताएँ तथा रचनाएँ, जिनके पठन-पाठन से कुछ छात्रों के मन में ग्लानि तथा व्यथा हो सकती है, प्रारम्भिक कक्षाओं में यदि न रखी जायँ तो सम्भवतः हितकर होगा। व्याकरण सम्बन्धी अभ्यास अन्य पाठों के साथ यथासम्भव होने चाहिए और आवश्यकतानुसार अलग से पूरा पाठ भी। रचना पर अधिक ध्यान देना चाहिए। अपनी प्रस्तुत सामग्री (विचार-धारा, शब्दावली आदि) के ही आधार पर छात्र जितने अधिक तथा विविध रचना सम्बन्धी अभ्यास करेंगे उतनी ही उनकी कलात्मक तथा रचनात्मक प्रवृत्तियाँ सुचारु रूप से उत्तरोत्तर विकसित होती चलेंगी। कक्षानुसार छात्रों को जहाँ बहुत सी कविताएँ कण्ठाग्र कराई जाती हैं, वहाँ उच्च कोटि के लोक-गीत भी कण्ठाग्र कराए जायँ। इससे छात्रों के गृह और पाठशाला, स्वाभाविक रूप से एक दूसरे के निकट आते जायँगे। पर यह कार्य भी विधिवत् सोच-विचार कर आरम्भ होना चाहिए।

सातवें, हमें कुछ मातृ-भाषा हिन्दी की परीक्षा-प्रणाली के बारे में भी सोचना है। आठवीं कक्षा तक भी परीक्षा का लगभग वही ढङ्ग है जो कि ऊपर की कक्षाओं में है। लिखित रूप में परीक्षा ली जाती है। उसमें कुछ अर्थ तथा भावार्थ पूछे जाते हैं; कुछ शब्दों के अर्थ तथा प्रयोग; दो-एक कहानी; निबन्ध आदि। सबसे बड़ी कमी यह है कि मौखिक परीक्षा का सम्भवतः मातृ-भाषा हिन्दी में प्रारम्भिक कक्षाओं के लिये भी कोई आयोजन नहीं है। यह स्वाभाविक है कि जिन विषयों अथवा विषयाङ्गों को परीक्षा में महत्व दिया जाता है, उन पर छात्र तथा अध्यापक दोनों ही विशेष ध्यान देते हैं। इस प्रकार 'भाषण' के स्वाभाविक विकास के लिये कोई प्रोत्साहन नहीं है। कभी कभी विशेष अवसरों पर वाद-विवाद प्रतियोगितायें, व्याख्यान अभिनय आदि होते हैं—पर छात्रों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के वार्षिक परीक्षा-फल पर उनका सम्भवतः कोई प्रभाव नहीं पड़ता । कण्ठाग्र-पद्य, लोक-गीति, सुपठन, व्याख्यान आदि को लक्ष्य करके मौखिक-परीक्षा की कोई योजना आठवीं कक्षा तक छात्रों के लिये अवश्य होनी चाहिये । साथ ही, अर्थ अथवा भावार्थ का पूछना बहुत उपयोगी नहीं दीखता । जिन परिस्थितियों के फल स्वरूप उन भावों का सृजन हुआ है, उन परिस्थितियों को उचित प्रश्नों के द्वारा छात्रों से निकलवाना चाहिये ।

अन्त में, हिन्दी अध्यापकों के बारे में भी कुछ विचार करना सम्भवतः अप्रासाङ्गिक न होगा । हम हिन्दी अध्यापकों का दायित्व बहुत बढ़ गया है । हर्ष का विषय है कि हम लोगों की बहुत सी असुविधायें अब दूर हो गई हैं । हमारे वर्ग में अब 'दीक्षित' लोग भी आने लगे हैं । पर अभी हमारे दृष्टिकोण में आशाजनक परिवर्तन नहीं हो सका है । भाषा के अध्यापक को सहृदय होना परमावश्यक है और हिन्दी भाषा के अध्यापक को तो कर्त्तव्य-निष्ठ होना भी । छात्रों में अनुकरण-प्रवृत्ति अपार होती है । पाठ्य-पुस्तकों का उनके ऊपर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि अध्यापकों के व्यक्तित्व का । हिन्दी के अध्यापकों को अपने अध्यापन, व्यवहार तथा अन्य सभी उपचारों के माध्यम से उस सुसम्पन्न संस्कृति को छात्रों तक पहुँचाना है, जिसके कारण भारतवर्ष प्रत्येक परिस्थिति में संसार के सामने अपना मस्तक ऊँचा करता है । भला एक अयोग्य अध्यापक सत्य हरिश्चन्द्र, भीष्म पितामह, गुरुद्रोण, बालक एकलव्य, सती सावित्री, महाराणा प्रताप सिंह, अश्ववीर चेतक, शिवाजी आदि से सम्बन्ध रखने वाले पाठों को सफलता पूर्वक कैसे पढ़ा सकता है ? यदि अध्यापक के हृदय, भाव और भाषा का उपयुक्त सामञ्जस्य न हो पायेगा तो उन महानुभावों की पुण्य कृतियों का सुन्दर तथा सजीव चित्रण छात्रों के सामने कैसे हो पायेगा ? दूसरे, सभी विषयों का अध्यापन अब हिन्दी के माध्यम से या तो हो रहा है अथवा होने जा रहा है । फलतः प्रत्येक हिन्दी अध्यापक का यह कर्त्तव्य ही नहीं प्रत्युत धर्म है कि वे अध्ययनशील हों और उनका अध्ययन केवल 'स्वान्तः सुखाय' के दृष्टिकोण से नहीं प्रत्युत छात्रों की शिक्षा के विचार से भी हो । भाषा-शिक्षण-शैली पर जो सामग्री उपलब्ध तथा प्रस्तुत हो उसका उन्हें सावधानी से प्रयोग करना चाहिये और प्रयोग में जिन कठिनाइयों का सामना हो उनको दूर करने का उपाय भी सोचना चाहिए । अब प्रत्येक वर्ग के छात्र हिन्दी पढ़ने लगे हैं—सम्भवतः वे छात्र पढ़ने में उतने अच्छे न हों—उनके साथ उन्हें विशेष सहानुभूति दिखानी चाहिए ताकि वे हताश न हों । यह तर्क का युग है—स्वार्थ-सिद्धि में तनिक भी बाधा पड़ने पर प्रायः लोग गुरुजनों के प्रतिकूल अनेक तर्क-वितर्क में लग जाते हैं । अध्यापकों के लिये यह बड़ा घातक होता है—क्योंकि छात्र भी इसका अनुकरण करते हैं । आशा है कि मातृ-भाषा हिन्दी के अध्यापक अपने को इस दावाग्नि से भी बचाने का प्रयत्न करेंगे । यदि हम हिन्दी-अध्यापक इस प्रकार अग्रसर होंगे तो यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि हम अपने दायित्व को अवश्य पूरा करेंगे ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

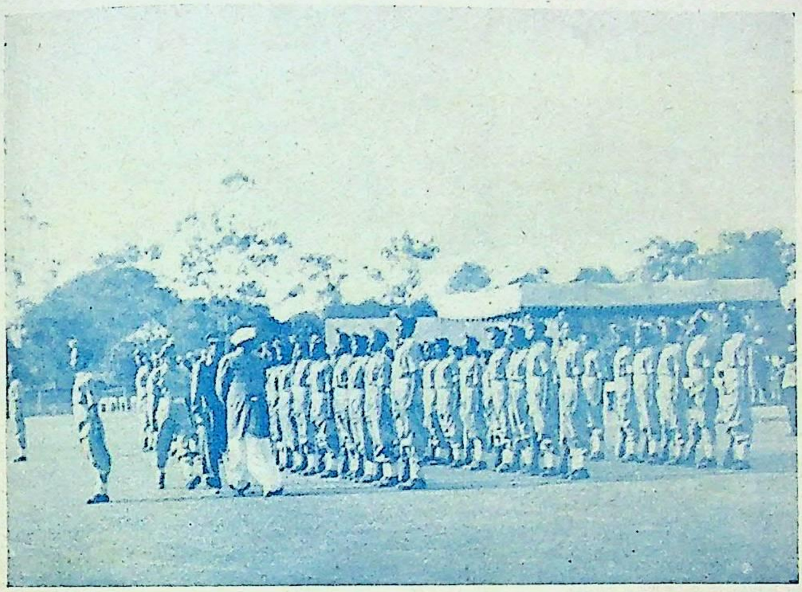

कानपुर पी० ई० सी० के प्रथम वार्षिक खेल कूद-समारोह के अवसर पर शिक्षा-मंत्री श्री हरगोविन्द सिंह द्वारा छात्र सैनिकों की परेड का निरीक्षण

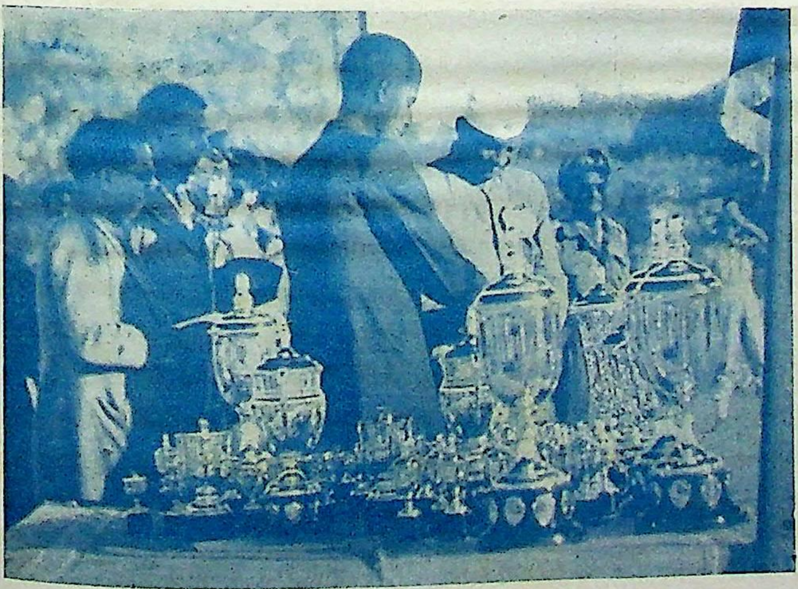

शिक्षा मंत्री छात्र सैनिकों को पारितोषिक वितरित कर रहे हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

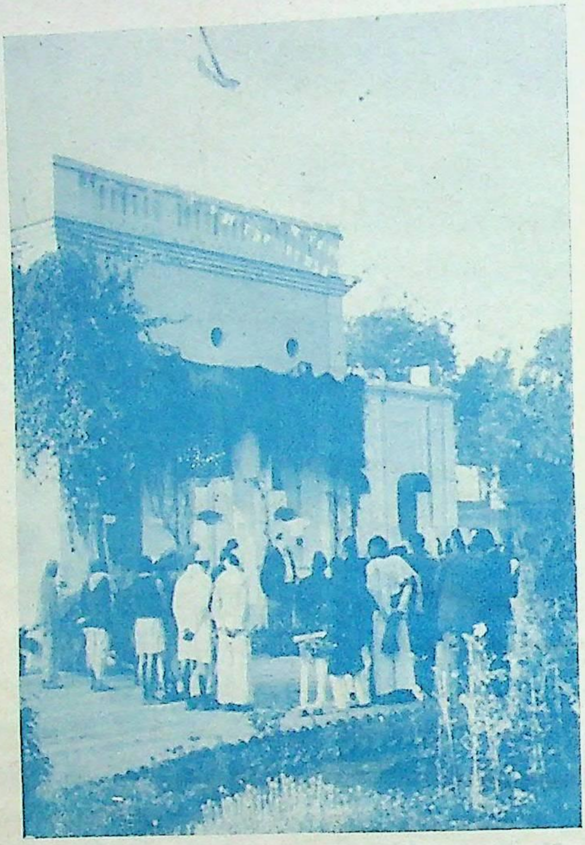

२६ जनवरी, १९५४ को शिक्षा संचालक के शिविर कार्यालय में राष्ट्रीय ध्वजाभिवादन

समोधपुर (जौनपुर) उ० मा० विद्यालय तथा प्रशिक्षण विद्यालयों के आचार्य (दाहिनी ओर) तथा प्रबंधक (हार लिये हुए बाईं ओर) के बीच शिक्षा संचालक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

FULFILMENT OF VOWS AS PART OF EDUCATION

Prof. Indra Vidya Vachaspati, M. P.

Mr. G. W. Valentine of the University of Birmingham says in his well-known work, 'The New Psychology of the Unconscious':

"Probably, the thrill of pleasure experienced when we feel that we have done the right thing helps to stamp the tendency towards the performance of that action, so that on another occasion it is more likely to recur than it was previously. It is quite likely that the unpleasantness of failure leads to an avoidance of repetition of the useless action, an automatic tendency for it not to occur, which we may also call a repression. Now this inhibition of the unsuccessful action is usually quite unintentional if not unconscious. We can sometimes detect an erroneous movement, but normally, specially as we get more skilled, the modifications become more and more automatic and whether we are in form or out of it depends on the working of the facilitation of wrong impulses and the right ones."

Prof. Laird, the great psychologist, says in a letter to the author of the book quoted above:

"If, as you do, you make repression part of the general process of turning away from what is painful, it is surely clear that in most cases such repression is useful, and this seems in line with your general points, *i. e.*, that repression is (only) occasionally hurtful, and that the hurtful cases (at least when pronounced) are the neurotic ones."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Ancient System.

The ancient sages of India fully understood and grasped this psychological truth and made voluntary suppression, or even involuntary repression, in an atmosphere of reverent faith and desire for the attainment of spiritual merit, an essential part of their system of education.

A brahmachari or neophyte (a child who had been entrusted to a teacher with religious fervour and to the accompaniment of Vedic recitation which created an atmosphere of sanctity that affected both the master and the disciple and made them feel that they were being transported into a universe of new values and made to undergo a process of moral transfiguration) was required to get up early in the morning, have a dip in a flowing stream even in bleak cold, go about bare-footed and bare-headed even when the sun shone in sweltering heat, to partake of simple food not at all seasoned or converted into a delicate dish, to take the threefold vow of chastity, poverty and humility, and to avoid mixing over much with members of the other sex except under conditions which hereditary inhibitions and racial repressions invested with sanctity, *i. e.*, with women at the sight of whom the stimulation of the sexual impulse was a sacrilege which degraded him not only in the eyes of the world but in his own eyes. Rigid isolation of the sexes was no part of the ancient Indian system of education, but indiscriminate intimacy between juvenile sections of both sexes was tabooed. Looking upon a woman to lust after her was regarded as a sin of the deepest dye which could be wiped off only by severe penances.

The result of this system of education was that young men and women of that period were strong, healthy, handsome, self-reliant, practical, brave and absolutely unconventional with no trace of the prurient about them.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Inspired by the teaching of Rishi Dayanand, Swami Shraddhanand made an effort to revive this ancient system of moral discipline and started the first Gurukula on the bank of the Ganges. The university has now passed the experimental stage and has turned out hundreds of graduates or snatakas, as they are called, who have taken their rightful place in the arduous work of national upheaval-religious, social, moral, and political.

They are not convention-ridden and are not ashamed of their heritage. They do not feel that an Indian can not raise his head in pride and rise to the full height of his moral stature, unless he stiffens himself up, even in the hot month of June, in foreign dress which is unsuited to tropical climates. They do not feel the least hesitation in rubbing shoulders with the most eminent foreigners while dressed in the Indian style and squatting on the floor. They do not despise the magnificent culture which is their precious heritage. On the contrary, they consider themselves as its custodians, while always eager to enrich it by assimilation of all that is best in occidental culture and dovetailing into it all that has tended to the glory of modern Europe and America. They are dutiful sons and faithful husbands. They enjoy the natural taste of wholesome nourishing food and do not run after condiments and over-cooked dishes which ruin the stomach and derange the liver.

Old Spirit, New Form.

In the Gurukula, the spirit is ancient, but the form is modern. The system is ancient, but the methods of teaching and organization are modern. There we have the old ambrosia in new bottles. For the last few years, a new experiment in moral training and inculcation of right behaviour has been tried and been crowned with a fair amount of success. In

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ancient times, only a small number of students lived in the home of the teacher as members of his family, and the Acharya or Guru was in a position to watch personally the development of the faculties of his pupils with a view to the eradication of evil propensities and the fostering of noble impulses. In the Gurukula University of Kangri at Hardwar, we have thousands of students and quite a regiment of teachers. It is an educational colony.

In such a colony, it is impossible for the Acharya to give individual attention to all his pupils. He has to relegate a part of his authority to his colleagues, who, in the very nature of things, can not command the same amount of reverence as the Acharya who has initiated them—however worthy they may be. The boys care much more for the approbation of their Acharya than for that of those who are immediately in charge of them. In order to ensure that the Acharya may be kept informed of the behaviour of each individual pupil and of the moral progress that he is making as evidenced by outward forms of conduct, a new subject of examination has been added, called the Vrat-Abbhyas Parikasha, or Examination to ensure the Faithful Fulfilment of Vows.

Trust Begets Trust.

There are two printed forms. A copy of one of the forms is supplied to each pupil in the college department. On the psychological principle that "trust begets trust," he is expected to make daily entries as to the time he gets up from his bed and takes his morning bath, as also whether he has taken physical exercise and joined the congregational prayer. Most pupils take the view that it is shameful to make false entries when they are trusted so much. In their case the psychology that operates is the same which makes a

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

normal person think many times before he tells a lie when an oath has been administered to him, even though on ordinary occasions he may not be punctilious as to what he utters. An exalted notion of self-respect is fostered which makes it difficult for the pupil to commit an act of self-abasement. A powerful motive for the observance of solemn vows is thus brought into play.

Although we rely upon this motive force as the mainspring of action, the fear of public opinion and desire to win the approbation of elders are also exploited. The teachers are expected to go round and to note down the names of boys who have been guilty of lapses and dereliction of duty in these matters. When the monthly meeting of the Examination Board is held to award marks, the teachers' notes are carefully compared with entries made by the pupils, and if fraud is detected, marks are deducted and the reason for deduction given wide publicity.

Pleasing Habits.

There is a second form which is filled up by the superintendent actually in charge of the boy in consultation with other members of the Board and the Acharya, who, likewise, are expected to watch the outward behaviour of the boys and to seek and create opportunities for doing so. Marks are awarded by the Board under this head for personal cleanliness, neatness of the seat in the dormitory, orderly arrangement of books and other belongings of the pupil, obedience, punctuality, social service, willing co-operation with the teachers, etc. The result is that the responsibility for this desirable form of behaviour rests with the pupil, and he feels that however bright he may be in intellectual work, he will not get his degree, unless he attains a minimum amount of efficiency in desirable and prescribed forms of outward behaviour.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Just as the imperative need of getting a degree makes even naturally easy-going boys studious and creates in them a habit of study which, in many cases, persists through life, this examination spurs on university students to shake off slovenly habits and acquire the habits of personal cleanliness and neatness and orderliness in relation to their physical surroundings, makes the unpunctual punctual, teaches those who are rough in their manners the art of polished speech, and induces the naturally impertinent lads to assume the forms of polite speech surcharged with humility. In course of time, the pupil perceives the moral and even material value of these virtues, and habits are formed which conduce to the augmentation of the totality of pleasurable sensations, and a relapse into repressed habits of slovenliness and slatternliness becomes psychologically and even physiologically difficult on account of new psychological associations and newly formed pathways of nervous discharge.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PSYCHOLOGY IN SERVICE SELECTION

I. MILITARY SERVICES

Dr. A. R. Pachauri

(i) The Problem

Every practical student of society and human nature is aware of the waste, inefficiency and unhappiness which arises from occupational misfits. Men are constantly found condemned to do work which is uncongenial or above or below the scope of their abilities. It follows therefore that any development in the science and art of personnel selection has a wide social significance beyond the material concern to the group affected. Quick and scientifically valid methods have been found for selecting personnel for training and employment as operatives such as tradesmen, Industrial and manual workers etc. In this direction much had been accomplished in Germany, America and Great Britain already.

In peace time the process of selecting administrative or executive personnel for Government Services, the professions and private enterprises is a long one. It embraces school, university, and subsequent careers, examination of all kinds, the exercise of personal choice, and interviews etc. During the war Service Psychology had a tremendous growth with a view to make the most effective use of human resources. It aimed at preventing human waste. The object of psychology is to ascertain individual differences so that the unfit can be detected and the fit placed in where they can function in a way most useful to the Service and satisfactory to themselves. The Selection of Military personnel therefore involved in the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

first instance the preliminary sorting of large numbers of men and women for allocation to training for different duties and jobs. The services were also faced with the problem of helping to assign to new tasks in the most rapid and efficient manner large numbers of individuals who will differ markedly in the success with which they can perform them. The wasteful process whereby an unsuitably allocated recruit would have to try on frequent transfer from one Arm of the Service to another, entailing unnecessary expense and failure many times before he could find the activity suited to him, had to be abandoned.

A system has therefore been developed which enables to predict with a minimum of error and on the basis of objective data whether an individual will respond favourably or otherwise to the service environment, in what spheres he is unlikely to make any useful contribution, and the degree of success he is likely to attain in the training courses to which he is allocated. Since the time factor is of great importance, it is also necessary to assess the rapidity with which a man will respond to training as well as the ultimate degree of proficiency which he is likely to attain. In an era of mechanised warfare, the military expert has to think not only of providing machines but also of the need for selecting and training the men who are to work the machines. In modern warfare it is no longer a question of measuring Guardsmen by the yard-stick as every one knows.

(ii) Procedure for Service Selection

In the early years of the 2nd World War a selection procedure based on Psychological data was evolved in Training Regiments. Here men underwent tests which assessed mainly clerical, mechanical and signalling aptitudes and also took a verbal test of intelligence. The recruits filled up a

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

form giving their past educational and other histories, their interests and their hobbies. Recruits of undesirably low intelligence or of doubtfully adequate mental stability were referred to the local Army Psychiatrist. The Directorate of Selection of Personnel was subsequently established in the British Army on the success of this experiment. The non verbal test of intelligence was still given at the Recruiting Centres in order that Training Units linked to those arms which required the personnel of highest intelligence should have a selected intake and so reduce troop movements when the men were posted.

However, in the selection of officers a more elaborate and varying technique has been demanded in order to assess almost a long range of qualities required in different Armed and Technical Branches of the Military Services. Besides high intelligence, the essential qualities of character, leadership and personality are required to make a good officer. The normal testing period is three days. Candidates are of all ages from 18 to 50 and are drawn from all walks of life such as professors, engineers, civil servants etc. The candidates are treated as potential officers and every effort is made to put them at their ease while under test and when off parade. The testing officers mess with the candidates. The actual tests are conducted in the spirit of trying to find enough basic good qualities in each candidate for acceptance rather than in trying to find faults in him, No single test is decisive and the candidate is told this. The programme of test includes written tests consisting of Questionnaires, Intelligence Tests and other Psychological tests, Practical tests and Interviews. The Psychologist is chiefly engaged in the measurement of general ability to respond to training and of special skills and aptitudes and uses projective methods of assessing personality. The psychiatrist is concerned mainly with forming clinical

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

assessment of fitness of personality for Service duties and of capacity to withstand stress. Both take account of other objective criteria such as interests, previous training and work, hobbies, and experience.

The units of measurements of an intelligence test generally applied for this purpose are not mental ages or intelligence quotients but the standard deviation of a representative sample of the male population of military age. An effort has been made to eliminate childish, bookish or scholastic items and to give the questions a sensible and practical appearance so that the men shall take it seriously without undue nervousness and the look of a school-boy at a test, and at the same time feel due confidence in the fairness of the scheme.

The word intelligence is very loosely used in ordinary conversation. A good parrot-like memory and the flare for talking known as the gift of the gab, coupled with an attractive personality are convincing to most ordinary observers but in some cases these cover a marked lack of real intelligence. Alternatively, some highly intelligent and able young men are not impressive at first sight. There are (though rare) cases of men with a very high specialised aptitude for some particular activity who may be commonly but wrongly regarded as having much general intelligence. Speaking broadly, a fairly high score in the Intelligence Tests is a reliable indication of a quick and flexible brain with a capacity for rapidly grasping and analysing all the factors in unfamiliar subjects and situations. 'A man with his wits about him' is a fairly close description of an intelligent man.

The question is sometimes asked as to how far candidates can be practised in advance and so put up a performance in excess of their innate capacity. It is next to impossible to cram for the intelligence or Psychological tests, unless the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

particular tests (not type of test) to be used have been studied, solved, and memorised in advance.

The Matrix test *i. e.* that part of the intelligence test which proves the candidate's basic intelligence, mental acumen, and ability bas been given to a person of below average intelligence every day for a month without producing any improvement in results. On the other hand, a candidate of high intelligence may make a little better score if given this test again within a few days of his first attempt.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

THE MISSING COMPONENT IN EDUCATION

Austin A. D'Souza

M. A., B. T., Dip. Ed. (London), A. I E. (London)

Early in the thirties of the Century Mr. A. S. Neill, the enfant terrible of the more staid and sober school of pedagogues, wrote an interesting book with the challenging title "Hearts not Heads in the School." Mr. Neill's thesis was; briefly, that educators, in their zeal for training the minds of children, had neglected their hearts which, according to Mr. Neill, would play the dominant role in their later lives. Revolutions, he pointed out, were born in the hearts of men. Reason coming on the scene to direct, guide, and, if possible, control the emotional explosion that alone makes a revolution possible; and he went on to make a passionate plea to all teachers to let their pupils heads take care of themselves, and to concentrate their efforts on educating their hearts.

In his violent reaction against the "mental discipline" school of educators, Mr. Neill undoubtedly pushed his arguments in favour of the education of the emotions too far. But, exaggeration apart, the main burden of his thesis is unassailable. The Heart is the "missing component" in much of modern education; for too much attention is concentrated on the mind. Hence only too frequently children leave school with stuffed heads and starved hearts, with overdeveloped brains, and repressed and thwarted emotions which often result in disastrous repercussions later.

The "formal discipline" theory did not leave much leeway for the emotions; at best they were regarded as a

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

necessary evil, at worst as primitive and dangerous forces and impulses that must be rigidly curbed and repressed. Training the mind in the intellectual sphere and the body in the physical were accompanied by "breaking the spirit" in the emotional, which generally meant treating the child as a young and fractious colt whose highly dangerous feelings and emotions had to be subdued so that they would not interfere, as they were so apt to do, with the 'disciplining' of his mind and body.

This attempt to repress and, if possible, to eradicate the human feelings and emotions has been, and still is, largely responsible for the failure of modern education to deliver the goods. To attempt to isolate the emotions from the development of mind and body is impossible; to ignore them, or to attempt to repress them is little short of criminal. The emotions are the mainspring of action-feeling, thinking and willing are inseparable, three in one and one in three. To quote a well-known philosopher "You cannot know what you do not feel, even if you are told it a hundred times;" and, unless knowledge is set on fire by the heart, it will never issue in conviction and action for though Reason controls, or should control, man's life, it is profoundly influenced by the feelings and emotions. "Reason plucks the strings but emotions are the sounding board which gives the music body, colour and a carry through."

Man's highest creative genius is a perfect blend of emotion and reason, with emotion playing a major role. The psycho-analytic school of psychologists go a step further; they claim that the emotions dominate man's life, and assign to reason the inferior role of providing alibis or "rationalizations" for the actions to which our, often unconscious or semi-conscious emotions have driven us vis a tergo.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The "rationalization" theory is plausible, but, if accepted, would deprive man of all freedom, responsibility, and claim to be a "rational" animal. It is true that more often than we care to admit our emotions not only determine our thinking, but rule our actions; still the reason can and does normally keep the emotions under control; indeed it is the rule of reason that distinguishes the educated man from the child and the savage. The psycho-analytic over emphasis on the part played by the emotions in our every day lives is however of abiding value in bringing out the close and intimate connection between the affective, the cognitive and the active life of man. Thinking is not something that goes on in the brain; it involves the whole mind (of which affect is an important and indispensable element) and both thought and feeling, often inextricably intertwined, govern our will and our actions. Emotional health is accordingly important not only for right thinking and right doing, but is a vital element in the development of a complete and many sided personality, and for normal scholastic progress. Hence the emotions must not be by-passed, cold-shouldered or dammed, but effectively canalized and used in the all-round development of the child's character and personality.

The physiology and psychology of the emotions have been much studied in recent years. Prof. Mc Dougall was probably the first to bring them into prominence by linking them with the 'instincts' as the raw materials of human personality. His classical definition of an instinct as an "innate psycho-physical disposition to perceive and pay attention to certain classes of objects, to experience in their presence an emotional excitement and an impulse to action," and his pairing off of his 14 instincts with the accompanying emotions have since been questioned, but most reputable psychologists agree as to the inherited basis of the emotions and their

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

intimate connection with what may be broadly termed "instinctive behaviour." The child is born with certain innate physiological mechanisms and psychological forces and impulses that predispose him to act in certain ways. "Instinctive behaviour" is much more complex and modifiable than Prof. Mc Dougall made it out to be, but it is nearly always accompanied by strong emotional drives which have an inborn basis but are profoundly influenced by the environment. The emotions are therefore, not abnormalities or mysteries—they are normal expressions of human activity which colour our thoughts and actions and are linked with organic changes in the body.

The intimate connection between the emotions and the internal workings of the body, especially the glands and the autonomic nervous system, has been given increasing prominence ever since Prof. William James enunciated his famous theory that "Emotion is a state of mind that manifests itself by a perceptible state of the body," that Fear, for instance, is the intellectual awareness of the motion of running away from danger. Whether one admits this theory, (which to our way of thinking puts the cart before the horse) or not, there is no gainsaying that emotions have an organic basis which influences them to a great extent, while they in turn exercise a great influence on one's physical health and well-being. It is a well-established fact, for instance, that disagreeable emotions such as worry or fear produce emotional tensions and muscle tightness that results in such physical diseases as indigestion, migraine, insomnia and even gastric ulcers, and that the hormones secreted by the endocrine glands have an intimate connection with the strength and expression of the emotions. Endocrinologists undoubtedly make extravagant claims when they attribute emotional excesses and instability merely to physiological causes, but they have done much good in emphasising the organic basis of the emotions, and providing

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

a remedy for some emotional defects. All this weight of evidence only goes to prove that healthy emotions are necessary pre-condition to a healthy body.

They are still more essential for mental health. The emotions can be helpful in the intellectual life of man; they can also be extremely harmful. Rightly educated they can drive a child or a man to achieve great things, mishandled and not given adequate and proper expression in such a way as to produce emotional balance and health, they are the major cause of mental ill-health, backwardness, delinquency, and even lunacy of a type. Modern psychologists and psychiatrists, influenced by Freud and the Neo-Freudians, are inclined to find in the neglect, misdirection or repression of the emotions, especially in early childhood, the root of all later emotional difficulties, maladjustments and neuroses. Emotions need as delicate handling as high-explosives—to ignore their existence is as dangerous as being careless or off-hand with them. The Scylla and Charybdis of license and repression must be avoided. Conscious self-control will, ofcourse, often be necessary, but total inhibition should be the order of the day. The happy mean is not easy to strike. If emotions are only partially expressed, the child may grow up psychologically handicapped, working, as it were, on only three of his six cylinders. If they are completely dammed and repressed, they will probably drain away in fear, anxiety, guilt, inferiority, hostility and envy, and the emotional stress thus engendered will in many cases result in backwardness and maladjustment. Emotional deprivation often results in delinquency or in the formation of neuroses and complexes, whereas excessive emotional shock may lead to emotional defect and apathy which may make the child an institutional case. All these dangers must be avoided, the child's basic emotional needs—for love, security adventure—satisfied and his

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

more primitive emotions such as excessive self-assertion, sex feelings and aggressiveness harnessed and found worthy outlets by transferring the energy they arouse to the attainment of goals of individual and social value. The child's emotions in short must not be strangled, but diverted, into the right channels, for they supply the power and energy at the basis of all achievement and progress in the physical, intellectual and spiritual life of man.

The education of the emotions is essential for physical, mental and psychological health and well-being. "Love thy neighbour" must form, and is an indispensable and integral part of any balanced and all-round attempt to develop the personality of the growing child. The normality and completeness of that personality will depend in large measure on the possession by the child of the full range of primary and secondary emotions which given wide and varied opportunities for expression yet controlled and modified by being directed towards and centred round worthy objects, people and ideas into enduring and worthwhile interests, artitudes, sentiments and ideals which are the foundation of a noble character and a rounded and manysided personality.

The burden of educating the emotions, and with their help, developing those interests, attitudes, sentiments and ideas which supply the motives without which no true education is possible, rests mainly with the parents, and the Schools. The parents lay the foundation by giving the child, and enabling it to give in return, that love and affection that are indispensable for the child's normal emotional growth and happiness. The Schools should continue their work by providing a healthy, rich and stimulating environment for the proper development, exercise and sublimation of the child's emotions. The emotional tone and atmosphere of the school are vital factors in its success or failure. Schools must provide

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

plenty of scope for happy and purposeful activity, which gives the student the thrill of adventure and achievement and enables him to assert himself in a manner beneficial to himself and the community. The teacher-pupil relationship is of vital importance – fundamentally it should be one of friendliness and co-operation. The teacher should employ the emotional forces of sympathy, suggestion and imitation to inculcate worthy ideas and ideals, and make a liberal use of praise and example to inspire pupils with worthy emotional drives, while sarcasm and ridicule should be banished from the classroom. As far as possible the teacher should win the confidence and affection of his pupils, and use these as motives to guide them to self-confidence, and independence, and service of the community. An individual study of each child to discover what emotional factors are hindering or blocking his progress to emotional, physical or mental health and stability becomes imperative if this desireable state of affairs is to be promoted. Without it no true education is possible.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

TOWARDS BETTER DISCIPLINE

Dev Inder Lall.

Educational institutions in our country have seen a general all round deterioration in discipline during recent years. In some of the universities especially things have degenerated to such an extent that the situation is considered as alarming. It is therefore, imperative that urgent and immediate steps are taken to mend and reform the situation and remove the canker of indiscipline from our midst. , otherwise the entire pattern of our society stands in constant jeopardy. "Have we to accept as normal the utter lack of discipline among the students ?" asks Pandit Nehru. "The leaders of India of tomorrow will come out of the students of today", continues he and says "what kind of leadership are we going to have in that tomorrow if their training in the present is going to pieces ?"

This problem of indiscipline, it must be pointed out, is not peculiar to our country alone. It is in fact a world-wide phenomenon because the sun, it has been said never sets on the problems of conduct. Every country and every institution faces these problems at one time or another : some tackle them successfully, others make a mess of them. There is, however, a difference in the degree and acuteness of the problem in different institutions at different times and in different regions and different countries. But our misfortune is that the problem in our country has recently taken a turn for the worse. The whole situation, therefore, is embarrassing and intractable.

But whatever the magnitude and the immensity of the problem may be, it cannot be denied that we are all concerned

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

with and are all to blame for this sad and unhappy state of affairs. This raises extremley vital and far reaching issues; and it is for the teachers in general and educationists in particular to deal with them effectively and adequately. We cannot afford to watch listlessly, inertly or with indifference this utter demoralisation and degeneration of our education.

Apart from other reasons which may be given for this extremely bitter, wretched and unenviable state of affairs, one of the most important reasons is that we in this country have been under a foreign yoke for quite a long spell of time. The rulers, in their own interest used coercive and negative methods to keep order in the country. We obeyed the rules framed by the foreign government not because of any respect for law but for fear of punishment and as such we lost our sense of mutual regard, social participation and the obeying of law for the sake of respect that it commands, mutual benefit that it bestows and social progress that it ensures.

The struggle for freedom moreover, in most of the cases was nothing but defiance of law and authority. Students were asked to leave their schools and colleges and take part in all kinds of agitation with a view to further the struggle for national emancipation. These efforts bore fruit and we achieved freedom, rather earlier than expected by many. As a result of it rules and restrictions became fewer and we felt like free men, free to do anything. The same leaders who used to preach disobedience of law and authority became the government. Some of us therefore, naturally took SWARAJ as licence and confused it with power to do anything unmindful of its consequences. People of this category clean forgot that Swaraj is not a release but a responsibility and that it implies greater restraint and more self-control than ever demanded by the conditions in the past.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

This mistaken belief of Swaraj, however cannot be changed overnight. It will take us some time before we realise our new role and prepare ourselves to live up to it. Besides it will take some time for us to realise that what was right then is not only wrong, distracted and distraught but positively harmful, now. With a view to retrieving our position, therefore, we have to forget the lessons of the old and learn anew. This applies not only to the student community but also to the fraternity of teachers especially those teachers who belong to the old school and believe in curbing freedom in and out of season and imposing restraints without rhyme or reason,

In our attempts to resolve the problem of indiscipline we have to consider the very purpose for which education is imparted. It is said to be a "preparation for life" or to use Herbert Spencer's words, it is for "complete living". Voices may be raised against a total acceptance of these aims, and we are conscious of the criticisms that have been levelled against them, but it cannot be denied that the idea contained in these statements is very significant and must form an essential ingredient of any purpose or purposes that may be assigned to education. In fact no society can progress unless its individual members have been prepared for the life they have to lead and given adequate and suitable training in disciplined living. It, indeed, is the *sine qua non* of any progressive society and by training children in the art of disciplined living, the teacher certainly makes a solid and signal contribution to the welfare of his community and his state. This is so because no society can exist and no state can run unless every individual member composing it learns to analyse the social-situation he is placed in and to modify his conduct so as to fit in that social pattern. A machine can run smoothly only if every part fits in where it belongs. It is only this realisation that needs to be created and the rest will

12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

follow as a natural consequence. But this realisation, it must be borne in mind, can only be an inborn process and not an imposition from without.

As such discipline becomes an essential part and parcel of all human associations and may be better termed as 'social discipline'. We are however, constrained to point out that a vast majority of our teachers in schools and colleges do not realise this aspect of discipline at all. They neither see nor appreciate its constructive aspects and its educative possibilities. They also fail to realise that the problem of discipline is essentially concerned with a person's feelings and emotions. It is, therefore, not only wrong but definitely harmful to limit classroom discipline to a correction of wrong or undesirable conduct only. Discipline must carry out into life of which the classroom or the school is a mere microcosm.

Taking all that has been said above into consideration, it might be affirmed that discipline, if it is to further its own cause, must be positive and not negative, it must be constructive and not destructive, it must be suggestive and not prescriptive, it must be indirect and not direct and lastly, it must be remote and not immediate. Positive, constructive, suggestive, indirect and remote discipline seeks to create in the pupils wholesome ideas and ideals and healthy and desirable attitudes and habits and it accomplishes this through the effective agency of the classroom, study periods, hobbies, leisure-time pursuits, and other co-curricular or extra-curricular activities. In this way it touches the inner springs of thought and conduct and develops self-control which in turn protects the individual from the tyranny of his own lower desires and passions by appealing to the highest level of conduct—the ethical level.

Negative, destructive, prescriptive, direct and immediate discipline on the other hand, seeks to administer laws and

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

wield its authority by resorting to repressive and suppressive measures. It believes in correcting the wrong conduct or misdemeanours on the part of a pupil by means of unquestioned obedience to the will of the teacher. Instead of appealing to the higher levels of conduct, this form of discipline makes use of the fear motive—fear of punishment. It does not tolerate any deviation whatever from the prescribed code of conduct: but uniformity of procedure and subservience to commands are its watchwords. It, therefore, strives to secure and spread goodness by proscribing and suppressing wrong, undesirable and harmful conduct. It is certainly true that occasions so arise some time or other for such eventualities but to make this type of discipline as the very ideal will defeat its very purpose. Even in such cases when this type of correction alone seems to be effective, it is suggested that its tools, detentions, rebukes, punishments, withdrawals of privileges and the like should be used with the sole and specific purpose of making them an auxiliary to the positive type of discipline. It is so because true discipline is essentially creative and unless it creates an atmosphere of mutual regard and self-restraint no progress or advancement is ever possible.

It has been stated above that the right type of discipline touches the inner springs of thought and conduct and develops self-restraint and self-control which in turn protect the individual from all sorts of misconduct, misbehaviour and misdemeanours: and they accomplish this by appealing to the highest level of conduct—the ethical level. The individual in such cases refrains from doing a wrong act not because he is afraid of some rule, law or punishment but because his inner conscience disapproves of that act and overrides the lower desires and passions. It is, therefore, necessary for us to understand once for all the fundamental fact that the problem of discipline can be tackled successfully only if our education

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

helps to build the character of young men and young women. It should be realised more than ever today that the formation of character is the real goal of all educational effort and the real touchstone of its success or otherwise. As such our schools and other educational institutions must exist, if they at all exist, for the training of character and not merely for the learning of text-books, memorisation of lessons and passing of examinations.

What has been said above is a counsel of perfection but it does not cut much ice because it leaves a field worker where he is: it does not unfold or unravel any ready-made formulae or tricks of trade to be made use of in time of need. Besides the concept of character itself has varied with different peoples and in different ages. It is in fact one of those words which, in the words of Sir Sarvapalli Radhakrishnan, "is a delight to the sophist but a despair of the thinker."

We, on our part, are conscious of this difficulty. But there is certainly a large common measure in regard to qualities which has persisted in all times and in all climes. There is, therefore, no need whatever for us to delve deep into the meanings of this work. Talking in general terms, therefore, we might say that good character which is an essential part of good citizenship consists of the following traits :—

1. Self Control and obedience.
2. Honesty.
3. Courtesy and consideration.
4. Co-operation.
5. Helpful initiative and perseverance.
6. Promptness.
7. Orderliness.
8. Putting others before self.

The training of character, therefore, implies that schools, colleges and other educational institutions must work towards

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the cultivation of the above qualities. But it should not be forgotten that training in individual qualities or virtues is not the same thing as training in character. As G. A. Coe has pointed out individual virtues as bravery, fidelity and honesty apply as well among a band of robbers as among a group of law-abiding citizens. The distinction between the two must, therefore, be clearly understood. Along with this distinction, it should also be carefully borne in mind that our purpose cannot be achieved by mere theorising or by mere indulging in idle hypothetisation. Even mechanical repetition under threat of punishment will not lead us anywhere near our goal. The need of the hour, therefore, is to revise the working and organisations of our schools and colleges in such a way that they will develop in the pupil an integrated personality which consists of "organised ideas, attitudes, traits and habits which an individual has built up into roles for dealing with others and himself". This kind of personality, it should be remembered, cannot develop in a vacum but grows out of real participation in the social life of the school and the community. When looked at from this point of view, discipline in schools and colleges does not remain a problem for the class-room alone but envelops the entire life of the child and becomes co-extensive with living.

Before bringing out the practical outcome of the above discussion it must be pointed out that the methods adopted or followed for the purpose of inculcating the right type of discipline are not to be confused with mere policing. The line between the two must be drawn very carefully and it should be remembered that discipline develops best in a free atmosphere. Freedom, moreover, does not mean freedom for only an individual or for a group but it means freedom for all. It should therefore, be recognised that freedom will not be real freedom if its enjoyment by an individual deprives somebody

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

else of his or her fredom. Consequently there is no such thing as absolute freedom—freedom is always relative and invaribly implies some restraints or restrictions. It is, therefore, wrong to suppose that the terms freedom and discipline are contradictory. They are different sides of the same coin. This is so because that discipline which takes effect voluntarily is tantamount to freedom; and that freedom which gives up its rights in view of the inner voice or self-imposed restrictions is discipline. Freedom, therefore, always means disciplined freedom and likewise discipline is of the highest type when it is free discipline. Thus good discipline is always self discipline and implies self-control which is self imposed and self commanded. A good and well disciplined citizen is therefore, he who obeys order and commands and respects law not because of any alien authority but because he recognises the good that will come out of such obedience.

The question now arises as to how we can produce such results. What methods should we follow, what actvities should we introduce and what kind of organisation should we follow with a view to achieving best results in the minimum of time ? In the programme of opportunities that should be provided for the purpose two principles are of utmost importance and they must come before everything else. The first principle in this respect is that school organisation and control should not be the sole province of the head of the institutions or that of the members of the staff either but students should invariably be associated with them in all the different aspects thereof. Secondly, hobbies, leisure-time pursuits and extra-curricular activities should be so numerous and so organised as to appeal to the tastes and temperaments of all pupils besides giving them a lot of experience in managing them on their own,

The principle of student participation is based on the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

psychological dictum that "there is no age at which children may not be held at least partially responsible for their own conduct". Even a small child can be held responsible for sharing some responsibilities especially those which are directed towards his own emancipation. Furthermore, we have to bear in mind the fact that we live in an age of democracy and as a natural consequence of this fact it is imperative for us to provide opportunities to our pupils in sufficient numbers to engage in co-operative activities and thus socialize themselves. They must learn to work in cooperation with others and imbibe, at as early an age as possible, those ideas and ideals that will enable them to become active and effective members of a democracy. Moreover, by taking part in the organisation of the school and its activities they will not feel that they are mere cogs in the wheels of the school plant but they will come to regard themselves as vital parts of the school society which represents on a smaller scale, of course, the broader society of which the child is a member.

Student participation, moreover, is primarily meant to stimulate a sense of individual and group moral responsibility. It thus seeks to develop initiative, judgment and leadership in children. It also gives practice in administering social machinery. And last but certainly not the least, student participation improves teacher-pupil relationship and gives birth to a healthy school spirit which will animate the school as a whole and which in turn will have greater influence on discipline than mere discipline will or can ever have on school spirit.

The details of student participation in different institutions will not be exactly similar. Their nature and their extent will differ from school to school in accordance with the prevailing conditions, circumstances, demands and requirements of the society around on the one hand and the mental calibre, previous experience and interests of the student

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

community on the other. The exact nature and extent of student participation in school activities, therefore, cannot be fixed in an arbitrary manner but must be decided upon by taking all the factors mentioned above into consideration. But we should not be oblivious to the important fact that all such programmes must have personal as well as group aspects. Various items of activity may be suggested where the students may participate effectively. Sanitation and cleanliness of class-rooms and school premises, framing of rules and regulations for compliance by students, organisation of student courts and juries are some examples of these activities. In its purest form, student participation means the same thing as self government—government of the students by the students. It, however, should not be considered as complete surrender. There are degrees of self-government as there are degrees of student participation. But whatever the extent to which self-government is introduced in a school, it should under no circumstances whatever, be undertaken solely in a spirit of play. Power passed on to the students must be real power and it must be transferred gradually in reasonable measures. It should not be thrust on children but should be the outcome of a free expression of the common will of the student community on the one hand and of the staff on the other. In this connection it is important to bear in mind one important and fundamental principle and that is that if either the teachers or the pupils feel that the power has only been lent to them the proposition will never bear any fruit and is bound to prove abortive. In respect of student participation, therefore, the teachers of yesterday have to change their attitudes and frames of mind otherwise there is no hope for the suggestions made in the above paragraphs.

The second principle that we have suggested above is the provision of hobbies, leisure-time pursuits and extra-curricular activities. The inclusion of these activities in the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

work of schools, colleges and other educational institutions will go a long way in providing opportunities for training in discipline. This is so because education has to perform the dual task of providing for livelihood and for leisure. If it fails in its tasks, it results in and leads to serious injury of mind, body and character. Moreover, it must be borne in mind that extra-curricular activities are "organised phases of student life where conduct is more conspicuous than knowledge". As such they play a very important role in controlling the inner springs of conduct and in guiding the actions of an individual. But in order to get maximum benefit from these activities the following points must be carefully noted and strictly acted upon.

The first of these points is that the number of activities provided in a school or a college must be many and varied. It is only then that they can appeal to the interests, aptitudes and abilities of different pupils and help in the realisation of the aims stated above. Moreover they can lead to the enrichment of personality only if the students pursuing them are genuinely interested in them; otherwise, they are looked upon as mere impositions or inflictions from above and consequently they are bound to defeat their own purpose.

Secondly, these activities must be conducted in a manner which is most conducive to the development of charcater. This can be achieved by defining the aim or aims of each activity in clear, specific and unambiguous terms; permitting pupils to make their own plans and learn by experience; entrusting their organisation to the members themselves instead of vesting the entire authority in the teacher alone; and making provision for them in the regular school hours instead of regarding them as mere "tags" or "extras" which have to be carried on in extra time.

13

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

As a corollary to the above suggestions it should be noted that these activities should not be restricted to the provision of evening games only--and even these for a few would be show-men or gladiators. This would be a complete negation of what we are advocating. In addition to the different clubs like cricket club, hockey club, football club, kabaddi club, gatka club, and so on, provision should be made for debating society, old boys club, dramatic club, scouts club, girl guides club, music club, school journey club, holiday club, naturalists' club, study circle, N. C. C., festivals committee, guild of courtesy, league of mercy, book club, safety club, social service league, art club, photographic club, gardening club, cycle club, cooperative society, junior red cross and students' magazine. It is not suggested for a moment that every school should make provision for all these and these alone. What is implied is that every school should provide a host of such activities depending upon the initiative, interests, and enthusiasm of the teachers on the one hand and the needs, demands and stage of development of the pupils on the other. Besides it is imperative that they should be carried on in such a manner as to increase manifold the school's opportunities for doing good by enabling the students to take upon themselves corporate and social duties which in turn will lead to a socialising of the members and have a humanistic and civilising influence on them in general.

Before closing this discussion it seems necessary to say something about another aspect of discipline, discipline in the sense of maintaining order, which in the past used to be the teacher's only concern. In this sense discipline, as a rule, was of a stern, severe, negative and narrow type and concerned itself entirely with misconduct, misbehaviour and misdemeanour in the class-room, in the playing fields and

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

elsewhere. Not long ago discipline in the sense of order and strict conformity to set procedures used to be regarded as the first requisite and the foremost law of the school and it is a sad commentary that conditions in this respect in our schools have not improved much. Even today in most of our schools discipline is nothing but detection of misbehaviour in and outside the class room and infliction of punishment as a remedial measure thereof.

This is, however, old story and conditions must change. It is true that order is necessary for class-work and nothing worthwhile can be done in the class-room or outside in its absence. But it should be regarded as incidental to class-room work instead of being considered as the end and be all of discipline. Wrong doing on the part of the pupils, it must be carefully borne in mind, is not always due to wilful intention on their part. It may be due to some misunderstanding on the part of a pupil or to a lack of proper or adequate knowledge. In certain other cases the entire responsibility for it may be that of the teacher and not that of the pupil. Bad teaching, for example, invariably leads to poor and ineffective discipline. Besides, inactivity, fatigue and boredom also create disciplinary difficulties. This is not all. Misdirected energy, whether deficient or surplus, lack of legitimate outlet, resentment against improper control, bad physical conditions, undue egotism, low mentality, desire for sensationalism, misadventure and malice, besides a host of other factors all breed problems of discipline and the responsibility for their causes cannot be ascribed entirely to the pupils.

There is another point which merits serious and active consideration on the part of every teacher. When considering wrong actions and other problems of conduct or misconduct, the teacher should not be satisfied with only a

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

superficial study of the case but should make a serious effort and an earnest attempt to discover the real cause of misconduct or misdemeanour and remove it. Treating the symptoms only and improving the outward behaviour without effecting the inward springs of action will not yield effective, lasting and permanent results. He should, therefore, regard each case of misconduct as a problem to be studied and not as a situation to be met and this study of the problem should be carried on in a most sympathetic manner. Prescribing the same kind of punishment for the same kind of fault in different individuals will not be very effective or go very far in most of the cases. It has also to be remembered, as stated above, that there will be certain problems that arise out of the teacher's own personality or quality of teaching and they can best be solved by the teacher himself through self-analysis, self-correction, and self-improvement. This end can be achieved only if the teacher develops a proper healthy attitude towards himself, towards his work and towards his pupils. He should not do things in a halfhearted manner but should come thoroughly prepared to the class with his lessons and cultivate a genuine interest in the work entrusted to him. He should try to create interest in the minds of his pupils and arouse their curiosity in regard to the work in hand by means of questions, descriptions, illustrations, references and a greater and wider use of teaching aids. In short he should strain every nerve to motivate his pupils properly to a high pitch. As a result of this he will find that most of the disciplinary difficulties and problems will just vanish into thin air. This is so because an active, interested and properly motivated pupil is so much absorbed in his work that he has no time to think of acts of misconduct and misbehaviour—much less be guilty of doing them.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

In addition to this, a good teacher should be conscious of improving conditions in such a manner that the results are not only effective but also permanent. In this respect it has to be carefully borne in mind that the discipline that goes under the name of military discipline though helpful in creating calm and quiet temporarily in the class-room or outside as the case may be brings about no permanent results. This is so because it appeals to the lower motives instead of appealing to the higher motives of conduct. There are direct as well as indirect means of control and the indirect methods are always to be preferred because they bring about permanent results. They certainly take longer in some cases to produce results but it does not matter. If a teacher finds himself resorting again and again to direct means, there is something fundamentally wrong with him, or with the pupil or with the entire school plant.

In order to give a practical shape to these principles, devices, dictums or "tricks of trade" effectively a teacher will have to know his pupils and have an insight into their attitudes, aptitudes, likes and dislikes. He will have to see that his work suits the individual capacities and capabilities of his pupils and that he is not in any way forcing the dullard too fast or withholding the intelligent unduly behind. Even such small things as the learning of their names, readjustments of their seats, assignment of their duties in keeping with their mental make-up and approaching them on a personal level instead of dealing with them *en masse* as a herd of cattle will go a long way in enabling him to win over their willing cooperation and putting in their very best with a view to furthering the activities of the school and fufilling its purposes.

While concluding it may also be desirable to comment on the role of rewards and punishments in the educative

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

process. Although in an ideal state of affairs both rewards and punishment have no place, in actual practice however, it is impossible to totally dispense with them. The need, therefore, is that the teacher should learn the art of using them in such a manner as to be most effective and be beneficial both to the educative process and to the aim of discipline that we have outlined in the above pages. Meticulous care should, therefore, be taken to see that rewards do not swell the heads of those who win them and punishments do not make the pupils rebellious against authority by being too frequent. This end can be achieved by reducing the number of rewards and making them relatively difficult of attainment, sustained effort being considered more important than one solitary attempt. Similarly it should be borne in mind that punishment is an evil thing in itself and should, therefore, be avoided. But like a surgeon's knife it may, at times, be necessary. Such occasions, however, should be very rare and corporal punishment should be eschewed once for all from our institutions. There is nothing more disgraceful than this, both to the person who gives it and to the person who receives it.

In conclusion we have to remark that the problem of discipline is the problem of problems and bristles with many difficulties. To a cursory observer it even baffles solution but the imperative and immediate urgency of solving it cannot be challenged. This however, it must be pointed out cannot be accomplished in its entirety by any individual or any institution only by its own efforts. In the words of the Report of the University Education Commission (1949) "Administrators and teachers cannot solve satisfactorily the problems of promoting good life and high ethical standards on campuses. They must have the co-operation of the parents, the political leaders, the public and the press. This is a co-operative task which deserves the support of all good citizens.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The outcome is significant not only for higher education but for the sound growth of our country." We sincerely hope that this co-operative nature of the problem is realised by the inhabitants of this vast country as a whole in general and the teachers and the pupils in particular and efforts commensurate with the urgency and the magnitude of the problem are put in by one and all, so as to remove the canker of indiscipline which has been responsible for the demoralisation and degeneration of our education and has acted as an insurmountable obstacle in the achievement of progress and prosperity.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

REVOLUTION BY EDUCATION

MEXICO AND HER CULTURAL MISSIONS

Mrs. Urmila Johri M. A. (Columbia)

Since Independence one finds in india lack of enthusiasm in voluntary and private social efforts. The biggest problem is of raising finance. It is becoming increasingly difficult to run properly the institutions already in existence, leaving aside the question of finding finance for new ones. Moreover, a new difficulty has arisen on the part of voluntary workers. He or she does not get the inner satisfaction of doing the work for the benefit of the people of the low-income group because their work is generally non–reproductive. They come into clash with the authorities whom they cannot fight now as they used to do before freedom was won. They are not able to remove their grievances which makes them restless nor do the authorities know how to co-operate with the voluntary workers. The result is clash which is not productive of good results for either party. Consequently one finds non-co-operation between private and public efforts and seldom a co-operative successful enterprise in social education. Moreover, people are becoming increasingly dependent on the Government and therefore, they do not find it their duty either to work honorarily or supply finance. Though much is being done lately to enlist public co-operation through community projects, yet it has still to take root.

Besides, India has the stupendous problem of educating 180 million adults. She has to raise their standard both economically and culturally. They are to be trained for the citizenship of a free country, so that they can exercise their vote intelligently. The Government of India does not have the necessary finance and resources at her command to do the job at present for the successful completion of her final

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

five year plan and for successful working of the Social Welfare Board set up to speed and co-ordinate the voluntary social organisations in this connection. Consequently we will have to find ways and means whereby the private and public efforts in the direction could be co-ordinated and produce some tangible results for the benefit of general masses which in turn might bring their co-operation in it. Moreover there always has been lag in India in the needs and wants of the people and the education they get and consequently their efforts are mostly misdirected. Either we are ahead of their needs and do not get this co-operation or are behind them. Hence there is great wastage and drudgery in our educated social welfare work. The organisations seldom concede that the adult learns only when he feels need for it and what he learns satisfies some of his basic necessities or urges.

Mexico has carried out very successful experiments in adult education economically through coordination of voluntary and official efforts. I took a special trip of Mexico to study their methods and the Government of India gave me diplomatic visa for it. I consider in many ways the experience of Mexico and the use of Mexican methods are bound to prove of great value in our Educational Expansion programme. My tour was guided by one of the founders, of Rural Cultural Mission — Prof. Eurique Carona. I stayed there nearly a month and took several trips into the far-off rural areas.

Mexico.

Mexico is a country in the South of the United States. It has a population of 19,470,094 and occupies an area of 766,290 square miles. It is a rich and fertile country with poor inhabitants. It is beleived in Mexico that Mexico is mother to foreigners and step-mother to her own children. Hundreds of years of Spanish domination had reduced the Mexican to actual peon (MEXICANS, who are said to have high

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

civilisation with its flourishing citizens when the Spaniards led by Cortez first entered country through Veracruz).

The peon was born in debt and died in debt. 'The plantation was Mexico. It paid few taxes. It built no roads. It imported nothing from outside, and exported next to nothing. It made no efforts to improve the village, the tools, the crops on the lines of its dependents. It was not an economic institution but political one', in the words of Tenvalan action of the work *Peace by Revolution.*

Mexican problems are agrarian. Land plays important part in the civilization of Mexico. In order to understand the philosophy of education one has to keep it in mind. It goes back to pre-Columbian era.

Pre-Columbian and Colonial Periods.

Like many other countries Mexico suffered from conflict, oppression and clash of Cultures. It was in 1519 that for the first time Spanish landed at Veracruz. They did not meet much organized resistance. The Spanish Colonial rule was undemocratic. It kept its caste system at the cost of a few and systematically oppressed and exploited the masses.

Some of the educators recognized the needs of Mexico and tried to adopt the need to their number. The name of Arbishop Zummeraga and Viceroy Mendoza (1547) stand prominent in their effort to achieve fidelity, to real life in education, But much progress could not take place due to economic exploitation of the New Spain.

Mexico after Independence.

Mexico became independent in 1821. The first Constitution was modelled after the United States Federal Constitution. It went beyond in granting universal manhood suffrage.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

At the time of Independence there were three groups—Creols (Mexican - born Spanish), Mestizo (half-Spanish and half-Indian) and Indians. Indians exploited by Creols never integrated into Spanish Civilization. For the first hundred years a number of political and personal revolutions took place. The problem was to find leaders to represent the interest of the masses.

Insight into Mexican political mechanic led Diaz to hold power for 30 years, playing then one against another. However in the realm of public and finance notable progress was made in his time. It raised Mexico to a proud position but his land-policies were disastrous, especially the reactionary land-law of 1894.

Ninety percent rural-heads owned no property up to 1910. Rural education was completely ignored. The Reform laws were not observed. Eighty percent population was illiterate. The church made economic and political recovery a narrow grafting clique.

Revolution and Scholastic Education.

After the revolution of 1910 masses came out successful. They demanded land, liberty, education and effective suffrage. Mexicans should be governed in a Mexican way. "*Educar es governor*" (to educate is to govern) and "*Educator es redeemer*" (to educate is to redeem) became the battle cry of the Mexican Revolution.

Medro was elected president after the Revolution. He served Mexico in idealism but he was not strong and could not execute his plans and was killed.

However the Revolution brought forth the latent forces for social and economic enlightment for the masses. It was inevitable that school should take active part in land and

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

labour questions—in the conflict of state and clergy and in spreading the doctrine of Social Revolution.

The school relegated writing and reading to a secondary position and took on the task of social welfare, health, agriculture, village organization, recreation and home-making. A long tradition and revolution made the Mexican school "The House of the People" or the "School of Action".

Lack of financial and technical resources proved a blessing in disguise. It led to the use of native material. Mexican creativeness and ingenuity were put to test.

It gave them an opportunity to put into practice their social philosophy of education.

According to Dr. Sanchez "the school program seeks to become an integral part of the community life—of farming, marketing, of health and sanitation, of home-making and social organization. It is a phase of total program of revolutionary reforms and it is intended to operate in the intimate relationship to larger progress."

Aims of the revolution were realized during President Obregon's period of administration. Prompt application of the agrarian laws enabled the government to establish peace throughout the country.

Calles was elected president in 1926. He was a strong supporter of the program of 1917. Inspite of national and international trouble, new labour legislations were speeded up in his regime. Calles-government made notable progress in developing irrigation projects, building roads and promoted education among rural people. General Legaro Cardevar was nominated by the National Republic Party. He launched six years plan and actively pushed forward. From 1916-21, there was no Federal Secretariat of Education in Mexico. The States neglected their part.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

In 1921, the constitution was amended. It permitted Federal Government to establish schools whenever they were needed.

1927–	3,000	rural schools
1934–	12,000	rural schools
1935–38–	2,000	rural schools

The number is steadily rising since and no traveller who cares to go into the interior of Mexico can miss the village school building near the Road-side drive.

In 1944, it was found that 48% of the Mexicans could not read and write and school system is inadequate to meet the need. Each one and teach one program was launched by President Camacho.

In 1947 President Aleman dedicated himself to the project with the same zeal. The radio, press, public speakers, posters and floats were used to present the campaign to the public. State and Municipal Governments offered prizes to volunteer instructors with outstanding records in 1947. In the state of Chepas alone public teachers were now teaching 100 illiterates a day—150,000 in all. It was in addition to regular duties—a volunteer work.

Rural School

It is a humble structure. The building is improvised and built from the community's resources through popular subscription and effort. A black-board, some rustic benches, among fortunate ones a few pamphlets constitute the educational material. A teacher may have attended one institution or two for a few days or a lucky one may be normalisto–one who has gone to a normal school. The low qualification of a teacher is kept by design so that he may not widely differ from the society where he is to work. In the beginning stages the state employed the patriots and rebels to carry the torch of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

knowledge to the more remote village. The national government pays the salary of the teacher and occasionally furnished a few materials. It also pays a small monthly food and clothing allowance per pupil to Indian Schools. Curriculum is undefined. Through pamphlets, bulletins, teachers' meetings and the like, the teacher has been drilled in the theory of Mexican Education--in the Social Doctrines of the Day.

Literacy, national language, recreation, health and sanitation, agriculture and marketing are fields of action--subjects of curriculum. The public market, the village plaza, the fields and gardens become school laboratories.

Indian school is co-educational, elementary boarding school. The children perform all the tasks of the school and the school farm. The whole program is organized by a student government. They make their own food, clothes, and dormitory furniture. They go so far as to build their school plant or to adopt old church or government to this purpose. The institution is partly self-supporting. The school and its activities are kept at a level slightly above the situation of the people of that area. The aim is to prepare its children to live progressive lives in the country.

School work is adjusted according to the specific and immediate need of the community with an eye on their economic and social welfare. The teacher is mainly responsible for the selection and guidance of a community project. He is helped by the government officials in the final approval but actually he is the leader. Problems are attacked in order of their importance. If a community need pure water supply, people will be taught the need of pure water and how to make a stone filter.

First project is always built on economic situation. Agriculture, local industry, marketing and weaving etc. have

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

always precedence. Housing conditions need improvement in general and carpentry becomes part of the curriculum.

The Cultural Mission.

This institution is the first exploratory step that was taken in the field of rural education. Originally the Mission was sent out by the Government to establish the first rural schools in a region and to act as a spear-head.

These missions found the 'House of the People' the first of the rural schools. It is the most dynamic institution in Mexico.

The missions are in effect travelling normal schools. In fact the progress of the rural normal school is modelled largely by that of Missions – they are paramount Cultural Missions, Cultural Missions consist of an agricultural worker, a nurse, an educator, a recreation director, a manual art inspector and a social welfare worker.

These agents take school and community education and try to link the rural schools with the problem of the district served by the school. They do it through teacher institution, field activities in the communities, recreational program, field and class-room demonstrations. The musicians reorient community life and guide program of rural school.

The aim of the *Workers' Cultural Mission* is to improve the economic condition of the workers. They promote the organization of Consumer and Producer Co-operatives and if possible to secure higher salaries for workers and to establish Saving Banks. It has a teacher of Mechanic and motion picture projector in addition.

The *Urban Teacher Cultural* Mission keeps elementary teachers informed of recent developments. The kindergarten teacher is of out-standing success. He is a graduate of Normal School and has experience of teaching for five years. He is the leader of the Mission.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Industrial missions have also started work and becoming very popular.

Each institution operates for five weeks in one area.

The first mission which I visited was situated 300 miles from the city of Mexico in the village of X-yapan. The residents of the village had brought electricity from hundreds of miles away with their own labour and co-operative effort and with the technical assistance provided by the Government. They got light only for one hour and paid nearly twelve annas for a point. But the whole village is very proud of its plant. They have also installed a corn mill to reduce the work of house-wives who had to grind the wet corn on 'mastade' (sill-batta) and therefore, one finds dozens of house-wives standing patiently on the door of the village mill to take their turn to get their corn changed into paste to make chapatis. The villagers have also made pucca Hauz and platforms for their women-folk to wash their clothes. They have also paid attention to the beautifying of their village. They have made park outside the village and benches to sit there. They built roads and repaired the village Church and built the village school as well. The missioners of the village had gone into the interior when I visited. But one of the missioners who was also the resident of the village was left behind. He was looking after the work uncompleted. He was bringing up pigs and chickens and telling the villagers how to improve the breed. Besides he had an orchard and also experimented on flowers and fruit and vegetables. He used to help the villagers by throwing open his results to them.

In another village near Puebla another mission was carrying on the campaign of building chimney and hearth (चूल्हा) on raised platform in the kitchen to save the housewife from the harrassment of dogs, pigs and chickens and also to protect her eyes from the smoke. We should know that the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Mexican women also make bread in the same fashion as their counter-part do in India. Generally the kitchen room in villages have no door and consequently it is much more clean and hygienic if they start cooking and making chapatis while standing and thus be saved from the nuisance of their unwelcome visitors. The Mission has also a social nurse who was teaching them cutting, sewing and knitting besides cooking of nice dishes. They had organized an exhibition of their fine work and provided delicious dishes for two days and nights I stayed there. There was also a medical nurse who taught the young girls of the village first-aid and how to give different injections to people, animals and birds. The village also owned the existence of community band to the effort of the missioners. They not only help them in sowing good crop but practically give assistance in all types of household requirements including building of the houses to repairing of the furniture.

One mission was working its newly built town-ships. Their work was to help in solving the problems of electricity, water, communication, transport and to create good feeling and better understanding between the Government and people. The workers of the mission were teaching the people to make wooden toys from rags. The main campaign was to provide small medicine-cabinet, bandages, injection needles and medicines of daily use. I found that most of the houses had the cabinet and the housewives were keen to display their knowledge.

I also got the opportunity to visit another mission which was situated in a school. They used to hold regular classes. They had special arrangement for giving training in tailoring and nursing. There was enough provision for games and recreation. All the neighbouring localities were their laboratories where they were training people to grow

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

kitchen garden and flowers. The head of this mission was a lady. I also visited a mission situated near the capital of Mexico. It had built a big community centre with the help of the people of that locality. The building had several rooms including special rooms for maternity centre training in cookery and training for 'dais'. A village woman expecting a child could regularly be examined. She could be admitted and stay there for ten days after child-birth and thus provide opportunities for practical training and observation to young un-married girls. They had also arranged an exhibition of their hand-work and hand-craft where an artist from the community had displayed a plaster bust of Gandhiji. They had also built a Theatre Hall which could seat eight hundred people. The wall of this Hall had been painted by the local artists. They gave a good demonstration of dance and music. Mexicans are very fond of dance, music and playing on guitar. The prominent people of that locality gave big speeches praising the Independence struggle of India, Gandhi and Nehru. They also made a request that I should send an original photograph of Gandhiji to be hung in their Hall to commemorate the occasion.

In 1943 the Cultural Missions were re-organized on the basis of the experience of the past. They are now of three types to serve three distinct needs of the communities.

I. **Rural Cultural** Mission with the following staff— (1) the chief, a normal school teacher with five years of professional experience and wide knowledge of rural life and its problems; (2) social worker; (3) doctor and midwife; (4) teacher of agriculture; (5) construction teacher; (6) two or more teachers of trade and industry; (7) teachers of mechanics and operator of motion picture projects; (8) teacher of music; and (9) teacher of recreation activities.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

II. Workers' Cultural Mission. In order to improve the economic condition of workers these missions promote the organization of consumer and producer co-operatives and if possible secure higher salaries for workers. They consist of (1) the chief (2) teacher of recreation (3) teacher of mechanics and motion picture producer (4) teacher of music and (5) social worker.

III. Urban Teachers' Cultural Mission: These were designed to keep elementary teacher informed of recent educational developments. They consist of (1) kindergarten teacher—outstanding success in teaching for five years and a graduate of normal schools (2) the recreation teacher (3) music teacher (4) social worker (5) teacher of plastic arts and (6) teacher of small industries.

The work of a mission upon arrival at the spot selected for operation is of interest. A rural school is made the headquarters of the mission for eight weeks. It becomes the demonstration school. During the first ten to fifteen days, the members of the mission study the labour problems and the civic, social and economic difficulties. They develop acquaintance with leading personalities. In fact everything about the region and district is studied by the missions on the spot. Every effort is made to enlist the peasants' interest in the work of the school and cultural missions. They secure the help of the local people to initiate projects such as construction of a teacher's house, the inauguration of a marketing association, planning a community light-plant—in fact the cultural mission seizes and exploits any and all opportunities for the betterment of the community.

A great festival closes the mission's activity and then it moves on to a new locality to report its work.

The following description and critique of the present status of the Mexican Cultural Missions appears in the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'*Farmers of the World*' in a chapter dealing with Extension in Latin America, bringing the study up to 1945.

In Mexico, the Federal Department of Education has 25 Rural Education Missions which are carrying on extension in isolated regions of the Republic. The Mission's centrally located headquarters attempt to extend this programme to a surrounding area of about a dozen villages. Approximately, one to three years are spent in each area after which the mission moves to another centre. The missions try to assist and orient their programme to the needs of the people on the advice of a Committee of Economic and Social Action. This Committee is made up of local residents and it helps in the co-ordination of the total programme of the community. This programme has the advantage of being oriented to the needs of the local people being equipped to cover a wide range of needs and being organized so that its influence may spread over a large area beginning with villages which are most receptive. However, the missions do not remain in an area long enough and consequently fail to follow up their programme.

In spite of the criticism, no outcome of the Mexican Revolution is more significant than the rural education that has grown from it. In the words of Temenbham in his book '*Peace by Revolution*', "It is the most modern, yet the most delicate and sensitive large-scale movement of cultural stimulus and social awakening that can be recorded in America and perhaps in the world."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

THE STANDARDISATION OF THE VERBAL GROUP TEST OF INTELLIGENCE FOR 14 PLUS

(From the Director, Bureau of Psychology, U.P., Allahabad)

I. INTRODUCTION.

This is a Verbal Group Test of Intelligence for fourteen-year-old children in the State of Uttar Pradesh. It is in Hindi – the mother-tongue of children in this State It has been designed primarily for school-going children of 14 plus, and attempts to discriminate more or less uniformly at average and higher levels of intelligence so as to be efficacious in selecting children for Scientific and Literary courses of Higher Secondary Education in the State of Uttar Pradesh.

Unfortunately for want of correct recording of chronological ages and for other educational reasons, the fourteen-year old children are found in practically all the classes of Higher Secondary Schools. This test, however, is designed only for fourteen-year old children reading in class VII and above in such schools, and is not meant for fourteen year old who are in class VI and below, and should not be applied to them,

II. STANDARDIZATION OF THE TEST.

(i) The Sample :

The test was standardized on 952 fourteen-year-old children reading in twenty-seven Higher Secondary Schools of the State of Uttar Pradesh, spread over all the five

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

educational regions of the State. In each region the choice of schools was so made as to render the sample fairly representative. Out of every three schools so chosen, one was average, one above average and one below average. The representativeness of the sample of the schools for intelligence was determined mainly on the basis of the results of the schools in public examinations, the general reputation they enjoyed in the locality and the socio-economic status of the population they generally catered for. The sample included only boys, but it is hoped that the test will be applicable to girls also generally. The testing was done in February-March 1951 by the staff of the Bureau.

Table 1 gives more detailed information about the distribution of the sample used for standardization.

TABLE 1

Distribution of sample according to schools and educational regions.

S. No.	Name of the Institution	Educational Region	Sample for Standardization
1.	Govt. Higher Secondary School, Meerut	Meerut	46
2.	Vaish Higher Secondary School, Meerut.	,,	46
3.	Deva Nagri Higher Secondary School, Meerut.	,,	42
4.	Govt. Higher Secondary School, Agra.	,,	44

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

S. No.	Name of the Institution	Educational Region	Sample for Standardization
5.	Mahabir Digamber Jain Higher Secondary School, Agra.	Meerut	64
6.	Balwant Rajput Higher Secondary School, Agra.	,,	24
7.	Govt. Higher Secondary School, Bareilly	Bareilly	53
8.	Saraswati Vidyalaya Higher Secondary School, Bareilly.	,,	60
9.	Kr. Daya Shankar E. M. Higher Secondary School, Bareilly.	,,	48
10.	Govt. Higher Secondary School, Moradabad.	,,	29
11.	Gokuldas Gujrati Hindu Higher Secondary School, Moradabad.	,,	54
12.	S. S. K. Higher Secondary School, Moradabad.	,,	20
13.	S.S. Vidya Mandir Higher Secondary School, Allahabad.	Allahabad	25
14.	Colonelganj Higher Secondary School, Allahabad.	,,	57
15.	Christian Higher Secondary School, Jhansi.	,,	36

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

S. No.	Name of the Institution	Educational Region	Sample for Standardization
16.	Saraswati Pathshala Industrial Higher Secondary School, Jhansi.	Allahabad	52
17.	Govt. Higher Secondary School, Jhansi.	,,	57
18.	Govt. Queens Higher Secondary School, Banaras.	Banaras	22
19.	Harish Chandra Higher Secondary School, Banaras.	,,	28
20.	Sanatan Dharam Higher Secondary School, Banaras.	,,	15
21.	Govt. Jubilee Higher Secondary School, Gorakhpur.	,,	25
22.	Mahatma Gandhi Higher Secondary School, Gorakhpur.	,,	20
23.	D. A. V. Higher Secondary School, Gorakhpur.	,,	29
24.	Govt. Jubilee Higher Secondary School, Lucknow.	Lucknow	20
25.	Govt. Higher Secondary School, Faizabad.	,,	13

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

S. No.	Name of the Institution	Educational Region	Sample for Standardization
26.	Manohar Lal M.L. Higher Secondary School, Faizabad.	Lucknow	12
27.	Sri S. Saraswati Higher Secondary School, Faizabad.	,,	11
		Total	952

(ii) **Distribution of Raw Scores:**

Table II gives the distribution of raw scores made by the sample on which this test has been standardized.

TABLE II.

Distribution of Raw Score

Class Interval	N
90–99	2
80–89	21
70–79	36
60–69	65
50–59	80
40–49	136
30–39	163
20–29	195
10–19	175
0–9	79
Total	952

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The distribution of raw scores of the 952 cases is represented by histograms in Figure 1. The mean of the raw scores is 34·19 and standard deviation 20·03. The distribution of raw scores, it will be observed, is skewed positively, which we had designed it to be. It discriminates better at the middle and higher ranges of intelligence than at the lower. It is, therefore, specially efficient in selecting children with I. Q. 's 100 and above for allocating them to the Literary and Scientific courses of higher secondary education, and for selecting the brightest candidates for the award of some scholarship.

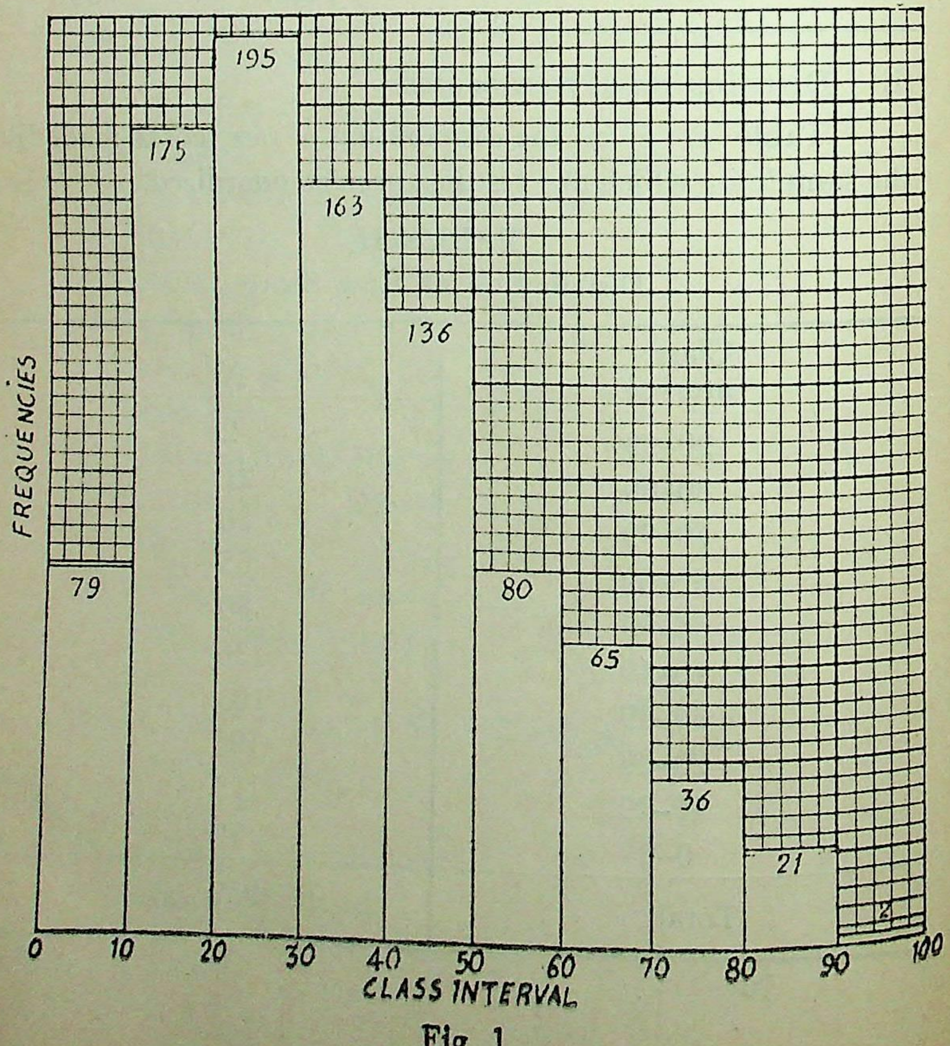

Fig. 1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्र विद्यावाचस्पति
चन्द्रलोक, जवाहर नगर
दिल्ली द्वारा
गुरुकुल कांगड़ी पुस्तकालय को
भेंट

(iii) **Regression Coefficient.**

Regression coefficients of raw score on age were calculated for the 2nd, 5th, 16th, 50th, 84th, 95th, and 98th percentiles for the twelve month groups* corresponding to ages, 14:0, 14:1, 14:2..............and 14:11. These were found to be respectively ·50, ·12, – ·05, – ·09, ·16, – ·10 and ·01. It was rather surprising that the regression coefficients were uniformly very low, except at the 2nd percentile, and actually negative† in the middle range, where normally they are found to be positive and fairly high. Under the circumstances, it was not considered proper that any age allowance be granted. However, in order to overcome this difficulty arising from negative regression coefficients, an alternative method was tried. Instead of the twelve month groups the year was divided into six month groups, two contiguous months being treated as one. Regression coefficients were calculated, as before, for the six-month groups 14:0–1, 14:2–3, 14:4–5.....................and 14:10–11, at the 2nd, 5th, 16th, 50th, 84th, 95th and 98th percentiles. These were found to be respectively ·19, ·24, ·41, – ·17, ·49, – ·07 and ·31. Unfortunately, the negative regression coefficients persisted, particularly in the middle range. Therefore, the idea of granting age allowance in this case was abandoned altogether.

*The month-wise frequency distribution was:

Month-Group	14:0	14:1	14:2	14:3	14:4	14:5	14:6
Frequency	25	88	78	51	72	62	89

Month-Group	14:7	14:8	14:9	14:10	14:11
Frequeney	170	122	69	42	84

† The phenomenon of negative regression coefficients may be due to wrong recording of chronological ages, irregualar month wise frequency distribution, maturing of intelligence during this period, insufficiently representative character of the sample or other unknown causes. The phenomenon, however, needs special investigation.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(iv) Norms for the Intelligence Test :

Norms for the test were set up with the help of Table III, which shows the raw scores and the corresponding I. Q. 's at different percentile levels. For standardizing the test, the mean of I. Q. 's was kept 100 and standard deviation 15.

Table III.

Raw Scores and corresponding I. Q.'s at different percentile levels.

Percentile	Raw Score	I. Q.
99	85·92	135
98	81·39	130
95	72·69	125
91	65·40	120
84	56·09	115
75	47·19	110
63	38·82	105
50	31·32	100
37	24·64	95
25	18·63	90
16	13·71	85
9	9·88	80
5	5·53	75
2	1·91	70

A graphical conversion scale from raw scores to I. Q. 's was prepared with the help of Table III and other values were calculated by interpolation. The table of norms for the test is given in Section X following. Intelligence Quotients between 85 and 140, corresponding to raw scores 14 and 91 respectively are to be relied upon with full confidence.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Intelligence Quotients below 85 obtained on the basis of this test (corresponding to raw scores of 13 and below) should be considered tentative. A child should not be assessed and declared mentally deficient on the basis of this test, as it is not meant to discriminate at the lower levels.

III. THE RELIABILITY OF THE TEST.

The reliability coefficient of the test was calculated by the split-half (odd–even) method and corrected by Spearman-Brown Formula, on the basis of a random sample of 100 scripts for the complete year group of 952 children. Every 9th script was drawn from the sample of each of the five educational regions, arranged in order of merit. The reliability coefficient works out to be ·96. It corresponds to a standard error* of 3 points for a child's I. Q.

IV. GENERAL INSTRUCTIONS.

1. The following procedure should be adhered to rigidly.
2. At the time of the test each child should be in a normal state both physically and mentally. No child is to be tested when he is ill or when he is mentally or emotionally disturbed.
3. The test is to be answered in pencil on the pages of the booklets. The supervisor should have a supply of spare pencils at hand in case any child breaks his pencil point during the test. He should tell the children before the test begins that anyone

---

* $S. E. = \theta\sqrt{1 - r_{11}}$ where $\theta = 15$ the S. D. of the I. Q. s. and r_{11} = reliability coefficient.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

who breaks his pencil point should at once hold up his hand.

4. Apart from the test booklets and pencils, no other material is to be allowed in the testing room. All books, papers, rulers, erasers etc., should be removed before the test begins.

5. In each testing room there should be two supervisors, both of whom should have read over the instructions before the administration of the test. One supervisor (with a spare copy of the test booklet with him) should stand facing the children. He should read the instructions before the test begins and observe that no child looks at his neighbour's paper, and generally supervise the whole arrangement.

6. The second supervisor, (also provided with a spare test booklet) should patrol the room quietly and unobtrusively. He should have with him the reserve supply of the pencils mentioned above. Besides watching the class and observing that no child copies, he should see that the children turn over the pages correctly and follow the instructions given at the beginning of each set of questions. In general, he should see that the children carry out the instructions as to the method of answering to the best of their ability. A few children unnecessarily try to rewrite questions, or make some similar mistake. In such cases an indication with the finger or a whispered word of explanation may be given. *Apart from the correction of such obvious blunders, no assistance, whatever, is to be given.*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. During the test the supervisors must not talk to anybody or engage themselves in any other work. Copying which is comparatively easy with this type of test, should be carefully guarded against.

8. The total time allowed to pupils for answering the test is forty-five minutes and should be strictly adhered to.

V. INSTRUCTIONS FOR ADMINISTERING THE INTELLIGENCE TEST.

1. It cannot be overemphasized that the words used and the procedure laid down below must be strictly adhered to.

2. The first supervisor should stand at the desk facing the students and say—

"आज मैं तुम लोगों को एक नये प्रकार की परीक्षा का पर्चा दूँगा। इसका नाम है बुद्धि-परीक्षा। इसमें तुम्हारी किताबों के पढ़े कोई प्रश्न नहीं हैं। केवल कुछ साधारण प्रश्न हैं जिनका उत्तर तुम उचित प्रकार से सोच करके ही दे सकोगे। इसमें छोटे छोटे बहुत प्रश्न हैं। उन्हें तुम जितनी शीघ्रता और सावधानी से कर सको करना। इसके लिए तुमको *पैंतालिस मिनट* का समय मिलेगा। यह पर्चा एक कापी की शक्ल में है। प्रश्नों के उत्तर भी इसी कापी पर लिखे जाएँगे। जब तक कहा न जाय कापी न तो खोलो और न उलटो। अब मैं तुम्हें पर्चा बाँटता हूँ।"

3. The supervisor should distribute the test booklets with front page uppermost and at the same time warn the students not to open the booklets until they are told to do so.

4. The supervisor should then supervise the filling in of such particulars as are required on the title-page of the test-booklet. He should say, "अब सब लोग मेरी ओर देखो। इस पृष्ठ पर लिखा है (संकेत करते हुये) "इन्हें भरो" मैं उन्हें एक एक करके पढ़ता जाता हूँ। तुम लोग एक एक करके भरते चलो।"

5. When the children have filled in the particulars on the front page, the supervisor should read clearly, emphatically, and slowly the instructions at the bottom of the front

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

page of the booklet. He should say, "पेन्सिल नीचे रख दो। अब मेरी ओर देखो। इस पृष्ठ पर लिखा है "नीचे लिखी बातें ध्यान से पढ़ो"

(holding up a test-booklet and pointing to the place). "मैं इन्हें एक एक करके पढ़ता हूँ, तुम मन में पढ़ो" ।

6. As soon as the rules are read, the supervisor should say, "सब लोग सब बात समझ गये? यदि कोई बात न समझे हो तो अभी पूछ लो। पर्चा शुरू होने के बाद किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जायगा। याद रखो प्रश्नों को तुम जितनी शीघ्रता और सावधानी से कर सकते हो करना। अच्छा अब पर्चा शुरू करने के लिये तैयार हो जाओ। शुरू करो।"

7. The Supervisor should note down the exact time when he gives the instruction to begin, "शुरू करो", and also the time when forty-five minutes will have elapsed.

8. After 15 minutes the supervisor should say, "आधा घंटा और है।" After 30 minuutes he should say, "पन्द्रह मिनट और हैं।" At the completion of 45 minutes he should say, "समय समाप्त हो गया। लिखना बन्द करो। पेन्सिल नीचे रख दो। जब तक मैं कापियाँ इकट्ठी न कर लूँ, अपनी जगह पर बैठे रहो"।

9. The supervisor should check that all the test-booklets he issued out to the students have been collected. No test-booklet should, under any circumstances, be left with a student,

VI. MARKING OF TEST PAPERS.

Tests are best marked with a coloured pencil. The answer-key should be strictly followed, even if occasionally a case arises where some other answer may appear plausible. Attention of the psychologist may, however, be drawn by the marker to doubtful or ambiguous answers by a note on the front page of the test-booklet.

Each item that is correct may be marked with a tick (✓), and each wrong item with a cross (X). Unattempted items should be left unmarked. The score made on each

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

page should be entered at the foot of the page and also in the space provided on the title page.

One mark is to be given for each correct answer. No fractional marks are to be given in any case. In all items, except where otherwise stated, credit is to be given if the student's intention is clear and correct although the method of answering may be wrong, *e. g.*, crossing out instead of marking with a tick, etc. Where a student has changed his answer, credit is to be given if the final intention is clear and correct. If more than one answer is given, underlined or otherwise marked where only one should be given, no credit should be allowed. When a question requires two responses, give credit only if both responses are correct.

VII. KEY OF THE INTELLIGENCE TEST.

Key is available to bonafide users of the test on application to the Director, Bureau of Psychology, U. P., Allahabad.

VIII. FINDING THE INTELLIGENCE QUOTIENT.

For finding the I. Q. (Intelligence Quotient) of the children the following method should be adopted :—

Get the scores of the child, i.e., get the number of marks which the child has got in the test.

Now consult the table of norms given in section X. In this table, figures on the upper rows are raw scores and those on the lower ones are their corresponding I.Q.'s

Suppose a child of 14 plus, scores 38 marks in this test and we wish to find his I. Q.

Find the figure 38 in the upper row. Below this figure you will find the figures 104 in the lower row. So our child with a score of 38 has an I. Q. of 104.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

IX. INTERPRETATION OF I. Q.'s

I. Q.'s may be interpreted qualitatively according to the following classification :—

130 and above	Superior Intelligence.
116 to 129	Distinctly above average Intelligence.
106 to 115	Above average intelligence.
95 to 105	Average intelligence.
85 to 94	Below average intelligence
84 and below	Inferior Intelligence.
	(Further confirmatory tests besides the present one, to be given before final evaluation.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

X. TABLE OF NORMS.

Conversion Table : Raw Scores into I. Q. 's.

Raw Scores :	1:	2:	3:	4:	5:	6:	7:	8:	9:	10:	11:	12:	13:	14:	15:	16:	17:	18:
I. Q. s :	:	70:	72:	73:	74:	76:	77:	78:	79:	80:	81:	83:	84:	85:	86:	87:	88:	89:
Raw Scores :	19:	20:	21:	22:	23:	24:	25:	26:	27:	28:	29:	30:	31:	32:	33:	34:	35:	36:
I. Q. s :	90:	91:	92:	93:	94:	94:	95:	96:	97:	98:	98:	99:	100:	100:	101:	102:	102:	103:
Raw Scores :	37:	38:	39:	40:	41:	42:	43:	44:	45:	46:	47:	48:	49:	50:	51:	52:	53:	54:
I. Q. s :	104:	104:	105:	106:	106:	107:	108:	108:	109:	109:	110:	110:	111:	112:	112:	113:	113:	114:
Raw Scores :	55:	56:	57:	58:	59:	60:	61:	62:	63:	64:	65:	66:	67:	68:	69:	70:	71:	72:
I. Q. s :	114:	115:	115:	116:	117:	117:	118.	118:	119:	119:	120:	120:	121:	122:	122:	123:	124:	125:

Raw Scores :	73:	74:	75:	76:	77:	78:	79:	80:	81:	82:	83:	84:	85:	86:	87:	88:	89:	90:	91:	92:	93:
I. Q. s :	125:	126:	126:	127:	127:	128:	129:	129:	130:	131:	132:	133:	134:	135:	136:	137:	138:	138:	140:	141:	142:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

THE TEACHING OF LOCATIOAL GEOGRAPHY IN JUNIOR HIGH SCHOOLS

(Principal, Govt. Central Pedagogical Institute, Allahabad)

The study of the position, shape and size of a region, country or a continent forms the first lesson in Regional Geography. It is inconceivable that a student can get very far with the serious study of the geography of a continent, country or a region unless he has a clear idea of what it looks like, who its neighbours are and what separates it from these neighbouring regions and countries, etc.

The study of the globe and the political map of the world has been prescribed in the Social Studies syllabus of classes IV and V in connection with the study of the distribution of oceans and continents, the principal air and sea routes of the world and the stories of Exploration and Discovery. From class VI a more systematic study of the various distribution maps has been prescribed.

It is, therefore, legitimate to expect that by the time they reach class VIII, the position of the continents, oceans, and the important seas and countries of the world with respect to one another and the important parallels of Latitude has been so firmly fixed in their mind that they can visualize them correctly in the absence of a map.

To test whether students can imagine correctly the location of the continents and oceans and the important countries and seas of the world we planned an investigation with the students of class VIII in the local Higher Secondary

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Schools. The test was given to 292 students towards the end of their school session when they were expected to have completed the study of the geography of the world as laid down in the syllabus.

A set of 39 questions was framed to test the students' concepts of the relative position of

(a) the continents with respect to the Equator, the Tropics of Cancer and Capricorn and the Arctic and the Antarctic Circles.

(b) the oceans with respect to the continents and

(c) a few important peninsulas, countries, seas, straits and canals with respect to the relevant continents.

The questions were of the multiple-choice type. In some questions four possible answers were given and the students were asked to check the correct one. In others six answers were given out of which they were asked to check the correct answers. One mark was allotted for every item in the questions, and thus every question carried 6 or 4 marks, depending on the number of items. To penalize guess-work the formula R—W was used.

The maximum score possible was 179, but to make the marks better illustrative of the performances of the students their raw scores were converted from 179 to 100. All figures below refer to these converted scores.

The test was simply on location, based on an elementary study of the map of the world, and the students' ability to imagine it.

Our aims in planning this investigation were to find out

(a) if students can visualize the simple map of the world and locate the relative position of the continents,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

oceans, and a few important countries and seas of the world;

(b) if they can visualize the position of the main land-masses and oceans with respect to one another in the absence of maps;

(c) if they are given map-drill in schools and how far it has been successful in achieving the desired aims; and

(d) what their main difficulties are and what remedial measures, if possible, can be suggested.

The results are represented graphically in the following diagram.

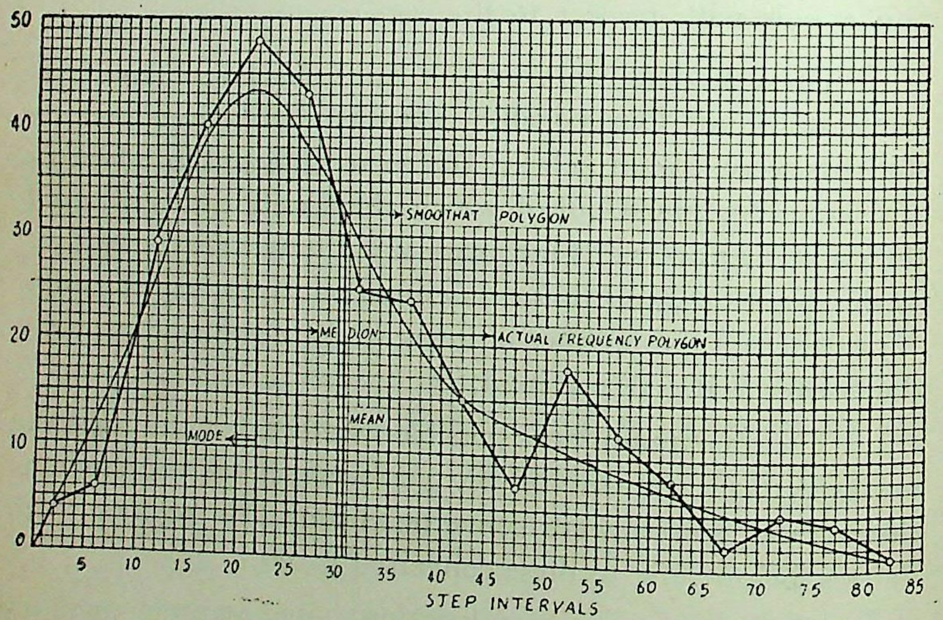

The above frequency polygon pictures the frequency distribution of the 292 scores. The polygon falls short of the Normal Probability Curve, is jagged in outline and a bit irregular in shape. To iron out chance irregularities and to get a better notion of how the picture would look like if our data were more numerous and less subject to error than they were, the polygon has been smoothed. The smoothed polygon

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

shows that the distributions are skewed positively, *i. e.* the scores are massed at the low end of the scale and spread out gradually towards the right end. The Median, the Mean and the Mode fall at widely different points in the distribution. The degree of skewness SK comes to ·72.

What was this divergence from Normality due to? Was it due to any abnormality in the group selected? We tested 292 students of class VIII in three Junior High Schools of Allahabad. For preliminary experiments 292 is a fairly reasonable number, the majority in which belonged to average middle-class families.

Was this positive skewness due to some defect in the test itself? Was the test too difficult for this class? The questions were given in simple Hindi and care was taken to include only those terms and names common in text-books. The questions too did not involve any serious study or detailed knowledge of the subject.

Was this skewness due to lack of normality in the traits measured? The results of the test demonstrate that students' knowledge of these details of place geography is very poor and their geographical imagination was too poor to answer these questions without the help of an actual map.

That this assymetry in the curve is due to lack of proper development of geographical imagination in the students and insufficient map-work in our schools is confirmed by the low scores and the various measures of Central Tendency and Variability. The Mean (30·6), the Median (26·6) and the Mode (22) are very low. These figures also indicate that the greatest concentration in the distribution is at 22 which again is a low figure. The 25th percentiels (Q_1) is 18·6 and the 75th (Q_3) is 39·3, which show that the middle 50% students score between 39·3 and 18·6 marks. The Standard Deviation (S. D.) is 16·6 and shows that the middle two-third (68 26%)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

students score between 14 and 47·2 marks. Statistical theory says that the S. D. is little affected by sampling errors and it can, therefore, be safely assumed that it will remain unchanged even if the group tested had been larger and more homogenous.

In order to evaluate the students' understanding of the various aspects of locational geography and to get an insight into their difficulties, their answers are being discussed at length below :

1. Relative position of the continent with respect to the Equator:

In this section there were three questions and the students were asked to check the names of the continents:

(a) which lie entirely to the north of the Equator;

(b) approximately through the middle of which the Equator passes and

(c) through the southern part of which the Equator passes.

An analysis of their answers show that:

(a) 70% knew that Europe and N. America are situated entirely to the north of the Equator.

(b) 70% knew that the Equator passes roughly through the middle of Africa and South America.

(c) 51% could say that the Equator passes through the southern parts of Asia.

These responses show that at least 30% students of class VII. cannot visualize correctly the simple map of the world and imagine the course of the Equator. They have no idea of the location of the continents with respect to the Equator. Distance from the Equator is an important factor in climate and the first thing a student studies in Regional Geography is the position of the continents with respect to the Equator.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

It is very discouraging that 30% students of class VIII did not know that Europe is situated to the north and Australia to the south of the Equator.

2. Relative position of the continents with respect to the Tropics of Cancer and the Capricorn.

There were two questions on the relative position of the continents with respect to the Tropics of Cancer and the Capricorn. Their answers show that 60% knew that the Tropic of Cancer passes through Asia, Africa and North America and that the Tropic of Capricorn passes through Australia, Africa and South America.

This means that 40% students of class VIII did not know the position of the Tropics with respect to the Equator and have not studied the position of the continents with respect to them. From this we are also led to conclude that they did not understand the Northern and the Southern Hemispheres and the changes in seasons brought about by the revolution of the Earth.

3. Relative position of the continents with respect to the Arctic and the Antarctic Circles.

There were two questions. In the one the students were asked to check the names of the continents through which the Arctic Circle passes. In the other, the three southern continents were given and they were asked to check the one through which the Antarctic Circle passes and to put a cross against the ones through which it does not pass. The percentage of correct responses in the case of the Arctic and the Antarctic Circle was 61 and 40 respectively.

These figures show that nearly 40% students did not study the position of the Arctic Circle with respect to the three northern continents and 60% of the Antarctic Circle with respect to the three southern continents. These two parallels

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

of latitude are important details in geography. Their position is studied in the study of seasons, permanent winds and in other topics. They also show that the continents extend farther towards the north in the Northern Hemisphere than do the southern continents southwards.

4. Relative position of the oceans with respect to the continents.

The names and the location of the oceans are too conspicuous to be missed by the students in the study of maps. It is expected that after the study of the globe and other maps of the world for four years the Junior High School students should learn the position of the five oceans with respect to the continents. Four questions were on the position of the Atlantic Ocean, four on that of the Pacific, two on that of the Indian and one on that of the Arctic.

The Atlantic Ocean : In two questions they were asked to name the ocean situated to the east of North and South America. In the other two they were asked to name the ocean to the west of Europe and Africa. The names of the Oceans were given below each question for them to check the correct answer.

The percentage of correct responses was only 48. It means that 52% students of Class VIII did not know that the Atlantic Ocean is situated to the east of the Americas and to the west of Europe and Africa.

The Pacific Ocean : The location of the Pacific Ocean with respect to the Americas, Asia and Australia is also not known to the students satisfactorily. 52% students knew that the Pacific Ocean is situated to the west of the Americas while 57% could correctly say that it is situated to the east of Asia and Australia. Thus we see that, compared to the Atlantic Ocean, students knew a little better about the location of the Pacific Ocean. But still nearly 45% had wrong notions.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Indian Ocean : In this section there were two questions—one on the position of the Indian Ocean to the east of Africa and the other on its position to the west of Australia. The analysis of their answers shows that, much to our surprise, their knowledge about the location of the Indian Ocean was still poorer. Only 44% could tell correctly that the Indian Ocean is situated to the east of Africa and to the west of Australia.

The Arctic Ocean : While studying the north-south extents of Asia, Europe and North America students study the position of the Arctic Ocean and are expected to know its geographical characteristics. In the test we included a question which asked the students to check the names of the continents to the north of which the Arctic Ocean is situated but only 50% could say correctly that it is situated to the north of Asia, Europe and North America.

5. Location of the North Sea and the Mediterranean Sea.

The mediterranean Sea has been the cradle of civilisation from ancient times. It is still a great highway of commerce. It separates Europe from Africa and it can be reasonably expected that students should know that it is situated in the south of Europe. Similarly the North Sea is also a highway of commerce and a great fishing ground. Students studied its position in class VII and were expected to know that it is situated to the east of the British Isles.

Two questions were asked—one on the location of the Mediterranean Sea and the other on that of the North Sea. The students' answers show that only 32% knew that the Mediterranean Sea is situated to the south of Europe while the majority thought that it is situated on the Equator probably because of the similarity in the names भूमध्य सागर and भूमध्य रेखा. Similarily 60% thought that the North Sea is situated

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

to the north of Asia. Only 17% knew correctly that it is situated to the east of the British Isles.

6. Relative position of the continents with respect to other continents.

While studying the geography of the world students can be expected to have learnt the relative po ition of the main land-masses. They were expected to know that Africa is situated to the south and Asia to the east of Europe. It is also expected that they have noted that the Bering Strait separates Asia from N. America, that the Urals form a rough boundary between Europe and Asia, and that the Panama and the Suez Canals separate respectively North America from South America and Africa from Asia. Six questions were asked to test this, but their responses were very poor.

(a) 56% knew that Africa is situated to the south of Europe;

(b) 61% knew that Asia is situated to the east of Europe;

(c) Only 29% knew that Asia is nearest to North America at the Bering strait;

(d) 41% knew that the Panama Canal separates North America from South America;

(e) 38% knew that the Suez Canal separates Asia from Africa; and

(f) 43% knew that the Urals form a rough boundary between Asia and Europe.

These figures show that the students' knowledge of the salient features of location of the continents is very poor. Nearly 40% students of class VIII could not name the continents situated to the south and east of Europe. 70% students did not know the position of the Bering Strait and nearly 60% had not noted the position of the Ural Mountains and that of the Panama and the Suez Canals.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. **Relative position of some important countries:**

When students pass out of the Junior High School stage they have studied, in some detail, the geography of the important countries and regions. It is also expected that in this study appropriate maps have been regularly consulted and that the position of the important countries and regions has been firmly fixed in the mind of every student.

North America : There were two questions on the location of Canada and Mexico and they were asked to name the country situated to the north and south of U. S. A. Only 46% could mention correctly that Canada is situated to the north of U.S.A. and 55% knew that Mexico is situated to the south of U. S. A.

South America : Similarly in the next two questions students were asked to check the countries situated in the north of South America. In the first question, six countries of South America were given out of which three were from the northern part of the continent. In the second question six countries were named out of which three were situated in the southern part of the continent. Their answers show that only 44% knew that Colombia, Venezuela and Guiana are situated in the northern part of South America and 40% knew that Argentina, Chile and Uruguay are in the south of the continent.

Europe : There were four questions on Europe. In the two they were asked to name three countries situated in the northern and southern parts of Europe. In each question six countries were mentioned of which three were from the north or south of the continent. In the next two questions they were asked to mention the relative position of Spain and Greece with respect to Italy. Their answers show that:

(1) only 49% knew that Spain, Italy and Greece are situated in the southern part of Europe;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(2) 46% knew that Norway, Sweden and Finland are situated in northern Europe.

(3) 31% knew that Spain is to the west and Greece to the east of Italy.

Asia : Asia is the home continent. They had studied India in class VI and Asia in class VII. During these two years' study it is expected that they had noted the relative position of the important countries of Asia, but their answers show that their knowledge of the relative position of even the important countries of Asia is very poor. On an average 51% students in class VIII knew these simple geographical details.

Conclusions: Conclusions from this study may be summarised as follows :—

1. Students' knowledge of the relative position of the main land masses and water bodies is very poor. A fairly large number of students of class VIII did not know that Europe is situated to the north and Australia to the south of the Equator, that the Pacific Ocean is to the east of Asia and Australia and west to the Americas, that the Arctic Ocean is situated to the north of Asia, Europe and North America. Their knowledge abut the location of even the important countries of the world is still poorer.

2. The geographical imagination of the students was very poor and they could not visualize the simple map of the world. Probably the importance of maps in the teaching of geography is not realised. Either maps are not used in teaching geography or, if they are used, they are used indifferently so that pupils can only point out names on the map.

3. Perhaps our teachers do not realise the importance of place-geography. At least somewhere in the educational stages of children, somebody has to teach them where the main land-masses and oceans, the chief countries and seas

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

and other important places are located, To fail to do so will only weaken a subject already getting less popular in our State. This however does not mean that geography is simply a study of locations. Of course, geography is much more wider than this but our experience shows that one of the prime requisites of effective geography teaching is an elementary knowledge of place geography. They should be given so much drill in map reading that the position of the continents and countries, aceans and seas and other important geographical features may be so firmly fixed in their mind that no child above class V should have to fumble around in trying to find England or the Suez Canal any more than he should have to count six plus three on his fingers.

Moreover, geography is a problem-solving subject. However good a mind, a child may have, he will be hopelessly handicapped if he does not know the location of the continents, countries and their main geographical features. Too much time will be wasted in muddling through what should come almost instantly, leaving the mind free to concentrate on thinking over the problem. It is just so much easier to understand the movement of men and armies, trade and commerce when students carry a portable map of the world in their heads.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

AN EXPERIMENTAL INVESTIGATION INTO THE ACHIEVEMENT IN LOCAL HISTORY OF THE DELHI HIGHER SECONDARY SCHOOL STUDENTS

Somnath Saraf

[Section III]

Testing the Chronological Sense of the Students :

The items of this particular question were meant to test the ability of the students to arrange certain historical events in order of chronological sequence with the purpose of finding out whether a good time-sense has been developed in them and whether they can locate historical events chronologically. It may be noted here that the students were not asked to give the dates against the items but were asked to number the events in order of their happenings. Therefore, the items in this question were very easy in the sense that these did not expect the students to recall to mind the forgotten dates but these were meant only to test the students' grasp of the chronology of the history of Delhi. The ten items in the question relate mostly to some important and decisive events not only in the history of Delhi but also in the history of India. Granted that the schools do not attach more importance to the teaching of local history, which they ought to, yet the picture graphically represented in figure VI and in

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Table XIV is a sad commentary on the historical ignorance of the students.

Table XIV not only indicates the percentage of correct answers but also the percentage of incorrect and unattempted answers. Therefore it is moie explanatory than figure VI.

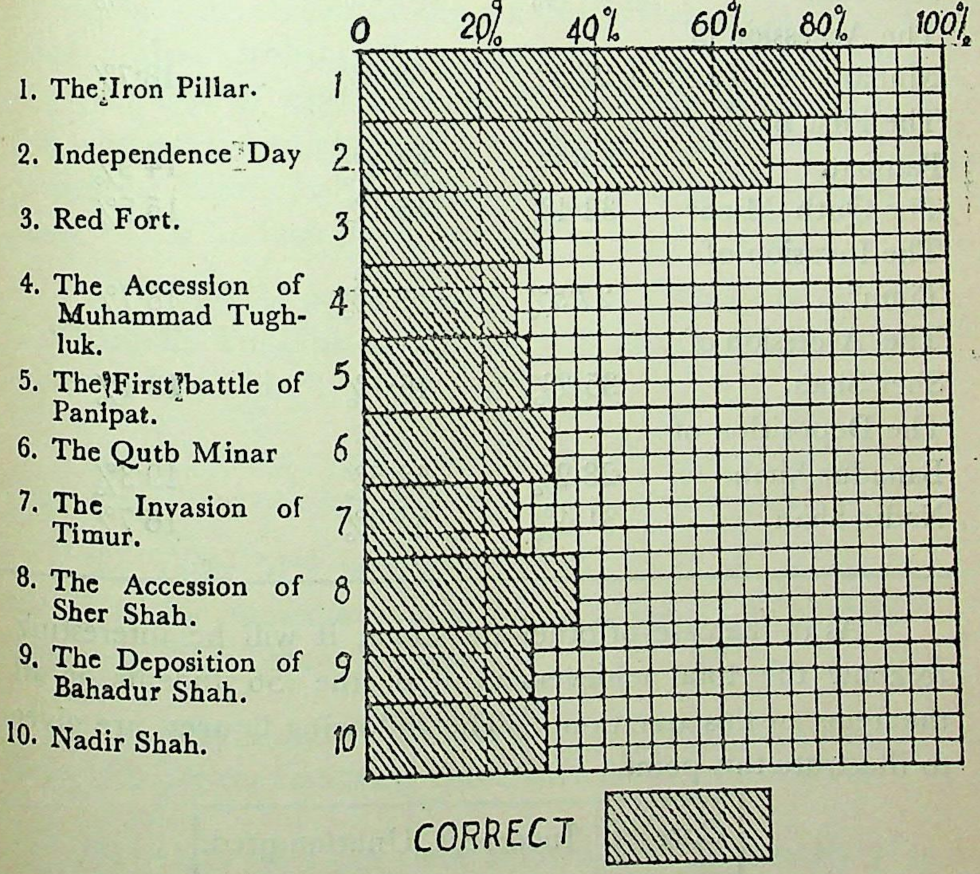

(Figure VI)

Bar graphs illustrating the time-sense of the students about certain decisive events of local history of national importance.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

TABLE XIV

Students' Knowledge of Chronological Sequences.

Historical events.	Correct	Incorrect	Unattempted.
The Iron Pillar	81·4%	8·3%	10·3%
Indian Independence	74·9%	14·7%	10·4%
Red Fort	32·0%	51·9%	16·1%
The Accession of Muhammad Tughluk	27·5%	53·8%	18·7%
The First Battle of Panipat.	30·7%	54·4%	14·9%
The Qutb Minar	38·4%	46·1%	15·5%
The Invasion of Timur	27·5%	53·8%	18·7%
The Accession of Sher Shah.	35·2%	46·7%	18·1%
The Deposition of Bahadur Shah.	28·2%	52·5%	19·3%
Nadir Shah	31·4%	51·9%	16·7%

As in the case of other questions, it will be interesting to know the total achievement of all the 156 students on all the items of this question. The following figures are given to illustrate this point.

Correct	Incorrect	Unattempted.
40·2%	42·9%	16·9%

That only 40·2 percent give correct and 42·9 percent students incorrect answers indicates the ignorance of the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

students. Couldn't we improve this sad state of affairs by improving our methods of teaching history ?

Historical reasoning and understanding

In question X some five historical statements were given and a number of answers to the statements were also given. The students were asked to choose the correct answer for each statement and to indicate this by putting a circle round the number of the answer. In passing, it may be noted here that some of the students did not quite understand the instructions. Most probably they have not been trained to deal with such type of tests; they are more adept in the essay-type tests where they can resort to a free use of words. Very comprehensive directions and instructions were given to the students. The findings are given below :—

(1) Only 57 per cent students could correctly say why Ghiyasud-din Tughluk built a new city, Tughlukabad, five to the east of the old city.

(2) 65·3 per cent students could correctly say why Anangpal Tomara selected Anandpur as his capital.

(3) Only 51·9 per cent students could correctly say what was the immediate cause of the defeat of Prithviraj at the hands of Muhammad Ghori.

(4) Why did Ibrahim lose the First Battle of Panipat ? Only 51·9 per cent students could give the correct answer.

(5) Only 48·6 per cent students could correctly give the reasons for the fame of Feroz Shah Tughluk.

On the whole the achievement of the students on the different items of this question has been satisfactory, as is

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

evident from the following figures:—

Correct	Incorrect	Unattempted
53·9%	27·5%	28·6%

Literary, political and local events of national and international importance.

This question was more or less of a mixed type. In the first item of this question the students were asked to write the names of the two famous poets who were contemporaries of Bahadur Shah the last Mughal Emperor. Bahadur Shah's reign may be remembered for the first national revolt of 1857 but it is more important because of the literary activities of the Moghul Court where the passing and shaky occupant of the throne patronized cultural activities. Maybe, Bahadur Shah was a political non-entity; but he was a literary genius. And no student of the later Moghul history will ever forget the role played by the Moghul Court in popularising Urdu. Zauk and Ghalib flourished in this decadent court. But only 49·3 per cent students could correctly give this information. It may be noted here that in item No. 27 of question 1, the same question was put in a somewhat different form. Zauk and Ghalib were two Urdu poets living during the reign of Bahadur Shah. As many as 67·3 percent wrote "Yes" against the statement. Why this difference of 18 percent between the two items on the same point. Most probably the one (Item 22, Question 1) was suggestive and of "True" and "false" type and the other (Item 1, Question XI) elicited the information directly. This can give us an insight into the difference in the achievement of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the students. During the reign of Shah Alam (1759-1806 A. D.) the vast Mughal Empire was reduced considerably in size, and magnanimity—it was a common talk those days to say "**Az Delhi ta Palam, Badshahi Shah Alam**" meaning that the kingdom of Shah Alam extended from Palam to Delhi. In one item of this question the students were asked to complete the sentence "**Az Delhi ta Palam**" but only 17·9 per cent of the students could successfully complete it; 7·6 per cent of the students unsuccessfully attempted it, while 75·5 per cent left it untouched. This may mean that the study of the later Moghul period is left untouched. It may mean that this period is least interesting for the students in spite of its numerous historical landmarks. Kotla Feroz Shah is called the Windsor of the Tughluks but only 3·8 per cent could give the correct answer and 30·7 per cent answered it incorrectly. The date of the martyrdom of Gandhiji is known all over the world. But do our Higher Secondary students know this date ? Only 35·0 per cent know it; the rest have either given an incorrect date or have not attempted this item. The holding of the I. N. A. trial in the Red Fort was a national event but it had a local significance in the sense that it was held in one of the famous historical monuments of Delhi. Only 14·1 per cent of the students knew this fact.

The total achievement on the items of this question can be studied from the following figures :

Correct	Incorrect	Unattempted
24·2%	22·5%	53·3%

These mathematical figures give a clue to the overall achievement of the students on this question.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

An assessment of the achievement of the students in the different periods of Delhi history.

After a minute and searching analysis and interpretation of the answers to the 139 items of the 11 questions of the test by 156 students, it may be useful to judge the comparative achievement of the students in the different periods of the history of Delhi. An analysis of only a few selected items will be made.

Ancient Delhi

Eighteen items relating to the different aspects of the history of ancient Delhi were included in the test. Not much is known about this period of Delhi's history; we have yet to wait for the findings of the research workers and archaeologists. In the test some 18 items were included with the purpose of assessing the knowledge of the students about this neglected but important portion of Delhi's history. Let us take up these items one by one.

The Pandavas : 87·1 per cent of the students know that Indraprastha was the Capital of the Pandavas, but only 33·3 per cent of the students know that Purana Qilla is the traditional site of the Capital of the Pandavas. It is really intriguing to understand this difference in the achievement. Most probably it is the inadequate provision for history outings; and if there are any outings, then organization is unplanned. It is not sufficient to teach history and particularly local history within the four walls of a classroom and this mainly may explain this difference.

The Mauryas : The Meerut pillar which is now on the ridge was made during the reign of Asoka, under his directions. About this 71·1 per cent of the students have given the correct answer and 78·8 per cent students have correctly asserted that the Pillar found in Kotla Feroz Shah was not made by any other ruler except Asoka.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Tomaras : Anangpal Tomar built a fort called Lalkot in 1060; only 45·5 per cent students know this fact. That the same king founded Anandpur is known only to 49·3 per cent of the students. What were the reasons that led Anangpal to select Anandpur as his capital ? 65·3 per cent of the students have given the correct answer.

The Chauhans : 71·1 per cent students know that Qila Raj Pithora is associated with the name of Prithviraj. In an item in another question the students were asked to write the name of the person who built Qila Rai Pithora; only 48·7 per cent of the students gave the correct answer. What was the immediate cause of the defeat of Prithviraj ? 51·9 per cent of the students gave the correct answer.

The Sultanate period: 69·8 per cent of the students say that Alai Minar is different from Qutb Minar but only 28·3 per cent students can say as to who started the building of the Qutb. 57 per cent of the students give the correct reason, Why did Ibrahim Lodi lose in the First Battle of Panipat ? 51·9 per cent give the correct and 39·1 per cent incorrect answers. The rest have not attempted this item. Only 3·8 per cent of the students know that Kotla Feroz Shah is the Windsor of the Tughlaks. Only 38·4 per cent of the students have been able to locate Qutb chronologically. Jahanpannah, the city built by Muhammad Tughluk was his special contribution to the history of Delhi and only 35·2 per cent of the students know this fact.

The Early Moghuls: Only 30·7 per cent of the students could locate chronologically the First Battle of Panipat which heralded the coming of the Mughals. This is really deplorable. 69·2 per cent of the students know that Shahjahanabad was the city founded by Shah Jahan and that he built the Diwan-I-Khas and the Jama Masjid is known only to 72·4

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

and 82·6 per cent students respectively. The students have a very poor knowledge about the names of the gates of Shahjahanabad. This is shown by the fact that there were only 34·6 percent correct responses. The Pearl Mosque in the Red Fort was built by Aurangzeb but only 41·6 per cent of the students know it.

The Later Mughals: Who introduced the festival of Ser Gul Feroshan ?, only 29·4 percent of the students know; and 67·3 per cent of the students in the 1st item of Question XI say that Zauk and Ghalib were two Urdu poets living in the reign of Bahadur Shah. Only 59·6 per cent of the students know that Bahadur Shah, the last Moghul Emperor was not tried in Rangoon and his tomb is not found near the Diwan-I-Khas within the red Fort. Only 17·9 per cent of the students could successfully complete the sentence: "Az Delhi Ta Palam." This shows the poor knowledge of the students about the history of the late Mughals.

Modern Delhi:

61·5 per cent students know that George V announced in 1911 the transference of the capital to Delhi. Only 55.7 per cent students know the names of all the colleges and their location, affiliated to Delhi University; 60·2 per cent students know the location of the Delhi University; 92·9 per cent students know that Mahatma Gandhi's Samadhi is not situated near Birla Temple; but only 35·8 per cent know the date of the martyrdom of Gandhiji. Only 14·1 per cent know where the famous I. N. A, trial was held.

Three items in the whole test which get the higher percentage of correct answers:

1. Shahjahan built the Red Fort .... 94·8%

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. Mahatma Gandhi's Samadhi is not near Birla Temple .... 92·9%
3. The Red Fort was not the palace of Humayun .... 91·6%

Three items in the whole test which get the lowest percentage of correct answers:

1. Which is the Windsor of the Tughluks ? ... 3·8%
2. Who built the Sunheri Masjid ? .... 4·4%
3. With whom is Pir Ghaib associated ? .... 5·1%

Conclusions:

It is to be frankly confessed that the overall achievement of the students on the test is not very good. Why should we have only 48·8 per cent correct answers; 23·0 per cent incorrect and 28·2 per cent unattempted answers on the whole test? These figures are significant and give an idea about the achievement of the students. May be, here and there, in this or in that item the students have done well but when we take the averages into consideration, we face a very gloomy picture. Such a low achievement in local history—history to which the students have direct access, through experience and visits and day-to-day outings (may not be history outings), through the existing and standing monuments and buildings and the relics and ruins of once famous cities, through the of-repeated melas and festivals, religious getherings and folklore, through the old centenarians and traditions and place-names, need not make us happy. If this is the achievement in local history what should we expect in the knowledge of national history—which is dead, and distant, drab and dry, unrelated to the day-to-day experience of the students. That the students have done badly not only in the history items but also in the items dealing with local knowledge which is essential for the Higher Secondary Students to have, does not

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

seem to indicate that there is something wrong with history teaching! The point seems to be that the importance of a knowledge of local events, places and conditions is not properly stressed in this state of Delhi, which, day in and day out, is largely deciding the history of India. With the result that, as Principal Basu puts it, "the children fail to understand clearly how history is shaping even in their own localities during their own life time." The authorities who are responsible for framing the syllabus in History of the Delhi schools must recognize this fact and give local history the position that it deserves. It does not sound educationally and psychologically reasonable and rational to have one item about the history of Delhi and its monuments at the highest rung of the school ladder Higher Secondary classes. As if this much was not sufficient, the schools in turn make this local history a necessary load, an incidental attraction which has to be read and studied from the books and not experienced, and that at the 11th class stage. The study of local history *must* begin earlier *i. e.* at the time when we expect the students to know something of history. We can go a step further, encouraged by the recent trends of integration and coordination and by the interest evinced by the majority of the history teachers of the Delhi schools, in teaching local history along with national history in a coordinated form. A proper appreciation of the position of the two histories leads us to the conclusion that the proper way to teach national history is through its coordination with local history. Every stone in Delhi has a story to tell a national story to tell. The author on the basis of the data collected after giving the test is firmly convinced of the efficacy of local history in changing the bitter national history pill more sweet and making it palatable. Another conclusion arrived at is that the books on local history need to be rewritten with a new perspective and, if

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

possible, embodying some scheme of the coordination of local and national history. Local history outings need to be organized on sound lines and planned with a view to make the students read stories from the stones in Delhi.

The author is fully convinced, after several years of experience in the field of history teaching, that no tangible, effective and abiding results can be obtained, even though the teacher may try his best to make the subject interesting and concrete, without the provision of a separate history room in the school. In order to teach local history effectively the provision of a local history museum in this history room is essential. Hence the provision of special rooms for history in the Delhi schools is sure to go a long way in making the subject attain the status that it deserves.

The author will conclude with the assertion that neither the students nor the history teachers are to be blamed for what is revealed in the pages of this study; their achievement has been decidedly good in view of the fact that local history is only a cinderella in the history syllabus of the Delhi schools. They have achieved—the teachers and the student—what could be expected from them. The study of just one item among dozens of other items in the detailed syllabus—with an insufficient weightage in the form of the marks assigned to it—does not warrant a more intensive study.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Appendix 'A'

TEST ON LOCAL HISTORY

Q. 1. Write "Yes" or "No" against each statement.

(1) The King of the Iron Pillar is Ashoka.
(2) Alai Minar is another name given to Qutb Minar.
(3) Pearl mosque inside the Red Fort was built by Shah Jahan.
(4) Qila Rai Pithora was built by Prithvi Raj Chauhan.
(5) Red Fort was the palace of Humayun.
(6) Humayun's tomb was built after Jama Masjid.
(7) Birla Mandir is situated in Mathura.
(8) Nigambodh Ghat was constructed by Shah Jahan.
(9) A splendid palace and court for the Pandava princes was built near Purana Qilla.
(10) The Kotla Feroz Shah pillar was made by Muhammad Tughluk.
(11) The Ashokan pillar on the ridge was made by Chandergupta Maurya.
(12) Mehrauli is a village situated to the north of Delhi.
(13) Jantar Mantar is a Road that connects Delhi with Meerut.
(14) Anangpal built a fort called Lalkot in 1060.
(15) Hauz-I-Khas was built by Ghyasuddin Tughluk.
(16) Feroz Tughluk's hunting box is to be found on the Ridge.
(17) Timurlane fought the Muslim armies near Mehrauli.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(18) Moth-ki-Masjid is a place where the Sultans of Delhi used to kill their enemies.

(19) Qila-I-Kuhana in Purana Qilla was Sher Shah's mosque.

(20) Salimgarh is a river which protected Delhi from foreign invasions.

(21) Khan Khanan Abdur Rahim was a courtier of Babar.

(22) Shahjahanabad was a city founded by Shihabuddin, son of Emperor Jahangir.

(23) Shahjahanabad had only two gates.

(24) Nadir Shah was a Mongol invader.

(25) Shah Alam introduced the festival of Ser Gul Feroshan.

(26) Nizam-ud-din Aulia did not believe in Hindu-Muslim unity.

(27) Zouk and Ghalib were two Urdu poets living in the reign of Bahadur Shah.

(28) Bahadur Shah, the last Mughal Emperor was tried in Rangoon and his tomb is to be found near the Diwan-I-Khas with the Red Fort.

(29) In 1911 George V announced the transference of the Capital to Delhi.

(30) Mahatma Gandhi's Samadhi is near Birla temple.

Q 2. Under column "A" you find the names of some places of Delhi and under column "B" the names of the person with whom these places are associated. Give the correct number to the items under column "B" so that you get the correct person for the place.

"A"	"B"
1. Jahapanah.	Muizuddin Mubarak.
2. Siri,	Khizrkhan.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3.	Shahjahanabad.	Qutb-ud-din.
4.	Firozabad.	Humayun.
5.	Tughlukabad.	Feroz Tughluk
6.	Kilokheri,	Giyas-ud-din Tughluk.
7.	Dinpanah,	Kaikabad.
8.	Khizrabad.	Mohammed Tughluk,
9.	Mubarakabad.	Shahjahan.
10.	Quwwat-ul-Islam.	Ala-ud-Din Khilji.

Q. 3. Write against the following the name or names of the person who built it.

1. Red Fort
2. Hauz-I-Khas
3. Diwan-i-Khas
4. Purana Qilla
5. Qila Rai Pithora
6. Qutb Minar
7. Alai Darwaza
8. Jamat Kuhana Mosque
9. Qila Khana Mosque
10. Humayun's tomb
11. Pearl mosque in Red Fort
12. Jama Masjid
13. Jantar Mantar
14. Pir Ghaib
15. Sunheri Masjid
16. India Gate
17. Central Secretariat
18. Feroz Shah Kotla
19. Bijai Mandal
20. Alai Minar

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Q. 4. Write the name and the location of the colleges for men and women in Delhi city.

(1)————————(2)————————
(3)————————(4)————————
(5)————————(6)————————
(7)————————(8)————————
(9)————————(10)————————

Q. 5. Where are the following situated ? Put the answer within brackets.

(1) Connaught place
(2) India Gate
(3) Birla Mandir
(4) Sisganj Gurdwara
(5) Safdar Jang's Tomb
(6) Flagstaff tower
(7) Mutiny Memorial
(8) St. James Church
(9) Qudsia Gardens
(10) Jama Masjid
(11) Kali Bari
(12) Kalkaji Temple
(13) Delhi University
(14) Roshanara Gardens
(15) Jamia Milia
(10) Arab Sarai
(17) Nili Chhatri
(18) Salimgarh
(19) Rashtrapati Bhawan
(20) Rajghat

Q. 6. For each of the undermentioned sentences you will find three alternatives. Choose the correct word which makes the sentence complete and fill in the blanks :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(1) Quwwat-ul-Islam mosque was built by ———
1. Altamash
2. Nasir-ud-din
3. Sher Shah

(2) Indraprastha was the Capital of ———
1. Chauhans
2. Tomaras
3. Pandavas

(3) The traditional site of the Capital of Pandavas is ———
1. Ridge
2. Purana Qilla
3. Mehrauli

(4) Remains of the Gupta period have been discovered on the ———Site.
1. Kotla Feroz Shah
2. Red Fort
3. Purana Qilla

(5) The iron pillar is to be found at ———
1. Qutb
2. Ridge
3. Kotla Feroz Shah

(6) Anangpal was the founder of ———
1. Suraj Kund
2. Anandpur
3. Nigambodh Ghat

(7) The hall of thousand pillars was built at———
1. Siri
2. Lalkot
3. Suraj kund

(8) Sultan Chari is the tomb of——
1. Altamash
2. Nasir-ud-din
3. Sher Shah

(9) ———was the first Sultan of Delhi.
1. Chenghiez Khan
2. Qutb-ud-din
3. Ab-ud-din

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(10) ————was used to adorn Feroz Shah's palace at Ferozabad.
1. Iron Pillar
2. Meerut pillar
3. Ambala pillar

(11) Salim Shah added another landmark to Delhi by building the ————to guard the fort over the Jumna.
1. Sher Mandal
2. Salimgarh
3. Purana Qilla

(12) The successor of the Tughluks were————
1. Sayyids
2. Humayun
3. Qutb-ud-din

(13) Ghyas-u-din's great work in Delhi was the building of a new city called————.
1. Lal Kot
2. Tughlukabad
3. Afghanpur

(14) The large space between the Qutb and Siri was walled and named————
1. Bijay Mandal
2. Jahanpanaha
3. Hall of thousand pillars

(15) Jama Masjid was built during the reign of————
1. Aurangzeb
2. Shah Jahan
3. Nasir-ud-din

Q. 7. What are the other "pat's" associated with Indrapath or Indraprastha ?

(1) ———— (2) ———— (3) ———— (4) ————

Q. 8. Name the different gates of Shahjehanabad (the present old Delhi).

(1) ———— (2) ———— (3) ———— (4) ————
(5) ———— (6) ———— (7) ———— (8) ————
(9) ————

Q. 9. Arrange the following in chronological order by write ing serial numbers within the brackets.—

Iron Pillar

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Independence Day
Red Fort
Accession of Muhammad Tughluk
1st battle of panipat
Qutb Minar
Invasion of Timur
Accession of Sher Shah
Deposition of Bahadurshah
Nadir Shah

Q 10. Put a circle round the number (or numbers) which, in your opinion, is (are) the appropriate answer (answers) to the following statements :—

(a) Ghiyas-ud-din Tughluk built a new city, Tughlukabad, five miles to the east of the old city because.

(1) He wanted to perpetuate his name.
(2) There was the menace of the Mongol invasion.
(3) This was a good site for a city.

(b) Anangpal selected Anandpur as his capital because

1. It had sufficient supply of water.
2. It had a very good defence.
3. Surajkund was nearer to it.

(c) The immediate cause of the defeat of Prithviraj was due to

1. the antiquated methods of warfare.
2. the internal dissensions.
3. his marriage with Sanjogta.

(d) Ibrahim lost the first battle of Panipat because

1. Babar had a strong army.
2. It was a chance happening.
3. Afghans and Rajputs did not help Ibrahim.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(e) Firoze Shah Tughluk is famous because

1. he removed the Ambala and Meerut pillars to Delhi.
2. he was a great builder.
3. he was a patron of learnings.
4. he pulled down many buildings.
5. he drove out Timurlane from Delhi.

Q. 11. (1) Name the two famous poets who were contemporaries of Bhadur Shah, the last Mughal Emperor.

(2) Complete the following couplet:
Az Delhi ta Palam

(3) Which is the Windsor of the Tughluks?

(4) Mahatma Gandhi was assassinated on———.

(5) The trial of Indian National Army officers was held in———

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

TWO ASPECTS OF MORAL EDUCATION OF THE CHILD

Nirod Mukerji

It was a sickening sight. With no apparent qualms of conscience there he stood–a lad of five summers– deliberately plucking the wings of the grasshopper securely held in his right palm. As I entered the room he threw a casual glance at me and continued in his absorbing preoccupation. In what might have sounded like stunned voice I inquired as to what was he doing ?

"I wanted to count the wings dad," dispassionately he drawled.

"Babua, you mustn't do that" I rushed to save the poor creature.

"Why?" It was the most unconcerned why I had ever heard.

"Mustn't Babua. Just leave the poor thing." I held his hand.

"But why dad ?" With the fingers of his left hand he held the two of the wings still remaining intact while the insect writhed in his right hand. "Why shouldn't I ?" It did not sound like one of his customary why's, it now bore signs of query.

"It hurts the insect, don't you understand ?"

"Why ?" He actually meant to ask how. But then children ask why as callously as we regard ourselves wise. Should I have said that God would be angry or something like that ? But if he asked why ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

His innocent looking face now betrayed enigma while time lingered heavily on the grasshopper. It came like a flash. Holding a pinch of his biceps between my fingers I gave a sharp twist. "O-o-o-ch !" came the response. Rubbing the sore spot with his left palm he looked bewildered at this unexpected cruelty.

"How did you like it ?"

"You have hurt me dad" mists of tears were fast condensing in his perplexed eyes. "You've hurt me". Raising the sleeves he peered at the aching spot.

"That's how the insect felt when you tore its wings, see ?" It worked. He looked at me and at the insect and at the small pile of severed wings and at the pinched flesh and then slowly put down the squirming insect on the arm of the chair. Twisting his fingers into knots he stood there waiting uneasily for his escape.

A few days later. Raghu, my neighbour's son, entered the room, rather, his entrance was heralded by outbursts of loud cry. Babua closely followed him with face that betrayed perplexity. Any enquiry at this juncture would have been redundant. It was plain that Babua had hurt Raghu, more precisely the lad had pinched his friend's arm. Poor Raghu made an earnest attempt to demonstrate exactly how the ghastly crime was perpetrated. Babua was all agog to offer his explanation. As the facts gushed forth from every side I learnt that the boy was too eager to impart his newly gained knowledge against cruelty to the insects. Since Raghu could not see why he should be bothered with this moral issue in the midst of his playing with toys and consequently took little interest, Babua hastened to give a demostration in order to impress upon the forced educand.........

× × ×

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Children are amoral, good or bad does not exist for them. Just like the animals. In the child conception of good and bad is limited to the experience gained in the fields of sense perception. The thing was good if it tasted good, sounded amusing or was pleasing to the eyes. Goodness or badness of the conscience does not exist for them, They have *no* conscience. Just like the animals.

And yet they come to possess this conscience. We all do. Animals do not. Even the most primitive human beings have their sets of laws directing them as to what was permissible and what was forbidden. Morality is the cherished pride of the human civilisation. Codes of morality are dependent upon abstract sense, to experience what could not be experienced through the sense organs. It is in this respect that we stand supreme over all other living beings. The young child is like a full grown animal, he cannot sense anything abstract. Yet he will supercede the animals one day. The child will grow and in time will help to impart the moral sense in his own child.

Training

But then moral sense does not grow of its own accord or automatically. A couple of decades back a Christian missionary in the then Central Provinces had caught two children who in their infancy had been snatched away by the wolves and among the wolves were they reared and when they grew they resembled the wolves and not the human beings. Raw flesh they devoured with relish, lapped water from the dish on their fours, and screamed when attempts were made to clothe them.

Evidently the child learns about morality as he learns all other things. He learns to distinguish good from evil just as he learns to distinguish two and three. And the laws governing

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the training in morality are just like the laws of training in all other spheres. Some of these we may profitably recount here.

Firstly, he must feel the need. We learn when we feel the need for learning. If the child grew up surrounded with sisters and aunts, maids and servants, he would fail to learn even to unbutton his garments. Why *should* he if others were too eager to do everything for him. Likewise he would fail to distinguish good from bad if the overfond parents looked at their precious darling with bemused smile as he kicked at the lunch plates or stuck out his tongue at the guests. Only when he realised that such manners adversely affected his self-prestige in the eyes of others–and they have such a horror for losing this asset—that they may learn better.

The second factor is regularity in training. Once a principle is taught to the tot we must adhere to it scrupulously. In other words, even in moral education there should be present an element of habit formation. Asking the child to wash soon after he left the bed one day, and on another day after he had had his breakfast would only cause wastage of energy in training. It would be like teaching the child to write with the right hand one day and on another day with his left hand.

An allied puzzle which the child often experiences is the contradiction in what he is taught and what he sees being practised by the teachers. The child is like a good accountant who writes what he exactly sees for himself. Pardon my confession. I just cannot recall how I had imbibed the none too good habit of swearing when exasperated. And Bubua–my Emile, in flesh and bones though–in due time was contaminated. With the aims of an ideal teacher-parent I explained it to him that it was not a nice word to utter. One day when I swore rather unawares the lad came close by me

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

and asked very innocently, "Dad, I wanted to ask you a question."

"Oh yes, shoot son".

"Is it so dad that the word d – – – d is bad for me alone or for both of us ?" His finger pointed alternately at his own self and at his guardian. Let me hasten to add that any child, *any*, would see through such common misuse of sermons though all might not put such inconvenient questions. Education is a by-way process indeed.

A not dissimilar situation arises when parents issue contradictory orders. Regretfully I have to admit that this is a common failing noticed at our homes. Even if the mother's advice to the child was not proper the father must not contradict her right before the young. This way the child would get confused and lose respect of both the parents. Let me add that this sort of anomalous state arises only when the relationship between the mother and father had grown colder compared to the wedding night. Anyway, at such a juncture the father better should remain quiet (or count hundred if he couldn't). He may point out the flaw to the lady in the absence of the child and it should be for the mother to rectify the wrong advice given. If she admitted her error she won't lose face. Children are unsophisticated beings, they prize frankness.

Next comes the question of comprehension. Learning to do something without understanding could hardly be regarded as learning in the true sense. Parrots could be trained to recite Vedic hymns but then they would not be called to perform ceremonial rites. At the outset no doubt it would be necessary to point out the quality of 'goodness' and 'badness' attached to each isolated situation. Food is good, to play is good, to cry is bad and so on. But this kind of training in specific matters could not be continued for long.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

His pestering why's indicate his eagerness to know the reason behind the actions expected of him. Let him feel confident that he knew why he could kill mosquitoes but not grass-hopper. As far as practicable I would let him know the reasons behind his actions, only thus would grow his ability to take independent decisions. That is what we want him to grow like, don't we ? But all these could be done quicker, better and with lasting effects if the relationship between the child and the parents and/or teacher were cordial. Learning is always easier a process than teaching, so to say, and better by far than teaching with punishment.

Punishment

Should children be punished ? It is a very big question indeed. Lately there has grown a tendency to regard the child as a piece of delicately balanced mechanism.

This is understandable. Until recently educationsists had freely preached the gospel of sparing the rod and spoiling the child, The pendulum has now swung to the opposite direction and we are now told to treat the child like grapes wrapped in cotton wool.

Looking more realistically one could advocate that they *should* be punished when *need* there arises. Life is not a bed of roses, and in the democratic way of living one is expected to pay for his errors. It is so much the better that the child was made to realize that the ways for punishment were ways of atonement for his misdeeds. I said atonement, and this is an important consideration. There is nothing worse than unjust punishment even in the case of adults, to the child it may cause terrific damage. This impels us to analyse every act calling for punishment, analyse it in its proper perspective before deciding whether to penalise and if so which

22

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

form of punishment would be most effective. A word of explanation is needed here.

It is common to regard the child as a diminutive man, and to treat the child as if he were an adult only smaller in size it is an erroneous theory to start with. When a child lies or steals should we treat him as if he were a grown up adult? If a child used profane language should we reckon the vulgarity at par with that of an adult? When a child showed cruelty towards a helpless bird must we look at the act with the same eyes of disapproval as we may rightly do in the case of adults ?

Briefly, no. The child is not adult by any standard of judgement, and less so in matters of morality. It starts its life without any moral sense in it. Consequently, the child's petty acts of immorality should be correctly analysed before any action were taken. Here are a few cases of common forms of immorality we witness in the children. Why does the child lie?

To start with, the particular case may not be of lying at all as we understand by the word. We call it an act of lying when the person deliberately puts forward an argument, a statement or a view which on scrutiny may not be borne by facts. But the child, more often than not, is incapable of being so shrewd. His lying usually is spontaneous and erratic. He may say something at the spur of the moment. Unlike the adult the child is an irrational animal, he is not keen about reasoning. His lying may also be caused by his less developed mental faculties. For instance, the child as it is known possesses very poor memory for everyday events. Something that may interest him intensely he may remember but the petty incidents he is prone to forget very soon. Every day we see how easily the attention of the baby crying for a

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

toy could be diverted by telling it a fancy story and then it soon forgets about the toy, so weak is its retentive capacity. Now, in answer to the question: "where did you place the keys?" if the child answered, 'I didn't take them" when you had actually seen him playing with the keys an hour ago, it need not be concluded that the boy was lying. May be he had really forgotten about the keys since they had ceased to interest him any longer. At its worst such instances may be regarded as of misjudgement or of light-heartedness but not of lying in any case. Again, if the child reported that it had seen a horse with wings, the best way would be to express astonishment and forget about it. The child is imaginative, fantastically imaginative, his imagination is unrestrained and often he confuses between imagination and reality. He would control his fairy story imagination as he grew and the sense of reality dawned in him. Let it be remembered that imagination has its values, it is the dullard who is unimaginative. Of course one has to be cautious to discriminate between the genuine cases of imagination and of deliberate lying.

But the child may also lie, deliberately this time, only to wriggle out of a tough situation. Bitting his finger nails when he says haltingly that *he* did not break the spectacles he only meant that he was terribly scared of the consequences which he could partially foresee. What would be advisable in this case ? Well, each case would have to be judged on its own merits. If the error was due to chance a mild reprimand would perhaps do, much better would it be to make him realize how you suffered due to his negligence and carelessness. If you succeed in earning his sympathy, well, you may be rest assured that the guilty would regret. The child is a faithful animal. If the crime had been repeated despite your previous warnings punishment surely was necessary. But I would like to repeat again, let us search behind the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

delinquency and we may tumble upon an undetected and unsuspected cause. Possibly the child had no toys of its own and it wanted to play with something and we know what glamour a pair of spectacles holds for the child. May be he wanted to satisfy his childish curiosity and none had taken the trouble to show him *once* what the spectacles were like.

Another type of juvenile immorality lies in the use of profane language. But the child mostly swears because of his love for bombastic and high sounding words. Very often he has not the remotest idea of the words he used but he may have observed the elders using these with effective results, and so he too uses these.

Likewise stealing may be caused owing to the fact that the particular individual possessed nothing to call his own and man surely is property loving animal. Stealing, on the other hand, may be provoked by the playmates. Here again we are compelled to look for the reasons behind the action.

What is the value of punishment ? The civilised society has evolved the use of punishment against the recurrence of crimes. From this point of view punishment would lose its utility if the punished remained ignorant of the reasons for which he was punished. The child must be able to see the link between the cause and its effects, or else he would be nursing a mental wound and view the punishment as unjust, and there is nothing worse in producing evil effects than uncalled for punishment. In the latter cases the child is only provoked to lie deliberately in the future ; he may say to himself : 'well, for good or bad I would be punished, so why not satisfy myself for the present'. Frequent punishment would produce not dissimilar results. One may ask, whether the child really can see through the reasons calling for punishment. Humbly I would answer-yes. From my personal experience I would not hesitate to state that child is a true

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

symbol of democracy and justice. Nothing satisfies him more than when he sees that justice was done.

Last though not least is the question related to the form of punishment. What is the most effective kind of punishment? Well, mental punishment could produce results where physical harm failed to evoke any response. Social ostracism is perhaps the most effective of all punishments. To tell the child that no one would talk to him or play with him would be the worst calamity that the child could imagine. But this sort of punishment evokes the desired response only when the child loved the person who punished. If the mother happened to be looked upon as the symbol of tyrrany to the child, to tell him that she would not converse with him would only bring blessed relief to the child.

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

AN EXPERIMENTAL VALIDATION OF THE RORSCHACH TEST*

By Srimati S. N. Mehrotra M. Ed.
and
S. N. Mehrotra, M. A. B. Ed. (EDIN).

[*I. Introduction, II. Methodology, III. Design of Experiment, IV. Field Work, V. Data, VI. Validity Coefficients, VII. Conclusion.*]

I. INTRODUCTION

An attempt has been made in this experimental investigation to approach the complex problem of Rorschach validation from a new angle. The single variable technique of validation, which is the psychometrician's ideal, is too atomistic to do justice to the unstructured, multi-dimensional nature of the Rorschach test. The wholistic or organismic approach, which is the clinician's ideal, is too subjective and impressionistic to meet the legitimate demands of scientific validation. But the dichotomy between psychometrician and clinician, cross-sectional and longitudinal views, scientific observation and intuitive interpretation is an abstraction. It seems possible to strike a workable compromise, by no means perfect, between the two approaches, if the Rorschach protocol be interpreted wholistically and assessments on the

---

* Based on extracts from a dissertation submitted by the senior author for the degree of M. Ed. in the University of Allahabad, 1954. She wishes to express her gratitude to Professor P. S. Naidu for piloting the study. The design of the experiment and the statistical treatment of the data are mainly due to the junior author.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

fundamental aspects of personality structure, as revealed by the Rorschach test, be expressed psychometrically. The usual correlational technique of validation may then be applied to determine agreement between Rorschach assessments on the one hand and those obtained on some objective, reliable and valid criterion on the other. This is what has exactly been attempted in a simple form in this pilot experiment.

II. METHODOLOGY

In order to be valid, the Rorschach test must do what it claims to do i. e. it should project the basic structure of personality. This raises at once the fundamental question : what is the basic structure of personality as revealed by the Rorschach test ? The clinician never bothers to answer this question operationally and objectively, because he believes that it is neither possible nor desireable to express the unique personality gestalt in terms of objective group statistics ; the psychometrician, on the other hand, insists uncompromisingly that unless the basic personality dimensions are determined and defined objectively, no useful advance can be made towards the problem of Rorschach validation. The experimenters believe with psychometricians that the objective determination of the fundamental dimensions of personality structure, as revealed by the Rorschach test, is the *sine qua non* for any attempt at Rorschach validation, and this task, they think, can best be accomplished by factor analytical techniques. Of all the existing methods and techniques of personality assessment there is none more capable of determining and defining wholistically the fundamental dimensions of personality structure with greater parsimony and objectivity than factor analysis. As Cattell (1) observes :"Factor analysis

(1) Cattell, R. B., 'Factor Analysis.' New York : Harper, 1952, p. 358.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

is indispensable and without substitute in those early stages of a science where the natural functional wholes remain to be discovered in the chaos of multitudinous variables". Methodologically, therefore, the factor analytical approach to Rorschach validation appears most promising.

III. DESIGN OF EXPERIMENT

Much as the authors would have liked to factorize the various Rorschach scoring categories, it was not considered desirable to do so in a pilot study where the number of cases was very small (n = 25), and in which personality assessments were based exclusively on the Rorschach test. For want of other personality tests and assessments no useful personality dimensions could be set up even if a factor analysis was carried out. Therefore, the experimenters had to content themselves by retaining only the spirit of the factor analytical approach.

Seven Aspects of Personality :

On the basis of existing factorial studies in the domain of personality in general and with the Rorschach test in particular, the following seven aspects of personality were postulated rather subjectively as revealing the basic personality structure :

1. Intelligence,
2. Creative or Imaginative Capacity,
3. Emotional Maturity,
4. Emotional Balance,
5. Self Adjustment,
6. Social Adjustment, and
7. Introversion—Extraversion.

The bipolar factor analysis of Rorschach scoring categories, together with other tests of personality, carried out

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

independently by Cox (2) and Sen (3) indicated, first, a general factor of fluency or productivity, and secondly, two bipolar factors represented by approximately general intelligence and general emotionality. These three factors, it would be seen, have been incorporated by us in the seven aspects of personality postulated above, the factor of general emotionality having been made more articulate by distinguishing between emotional maturity and emotional balance. In addition, a new personality factor viz., introversion-extraversion has been introduced. This factor, though not indicated in the findings of Cox and Sen, has emerged repeatedly in the researches of Cattell (4) and Eysenck (5 and 6). Vernon (7), too, accepts it as one of the two main dimensions of personality on which, he thinks, it is possible to discover a modicum of agreement between different psychologists. Self adjustment and social adjustment, it would be seen, throw further light on the introversion–extraversion factor. This, in brief, is the theoretical justification for postulating these seven aspects of personality. It must, however, be made clear that this study does not claim these seven aspects to have been discovered objectively as the

(2) Cox, S. M., 'The Rorschach Test in Children'. Proceedings of the Twelfth International Congress of Psychology : Edinburgh, Oliver and Boyd, 1950, p. 50.

(3) Sen, A., 'A Statistical Study of the Rorschach Test'. Brit. J. Psychol., Statist. Sec., 1950, 3, 21-39.

(4) Cattell, R.B., 'Description and Measurement of Personality,' New York: World Book Co., 1946.

(5) Eysenck, H.J., 'Dimensions of Personality.' London: Kegan Paul, 1947.

(6) Eysenck, H. J., 'The Scientific Study of Personality,' London: Routledge and Kegan Paul, 1952.

(7) Vernon, P. E., 'Personality Tests and Assessments.' London : Methuen, 1953.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

seven factors of personality, orthogonal or oblique. In the absence of a complete and acceptable map of personality, these seven aspects have been postulated empirically.

Another consideration, of a practical nature, in postulating these seven aspects was that they are believed by Rorschachers, e. g. Klopfer and Kelley (8) to be the main structural aspects of personality which may be deduced from a complete Rorschach record. It seemed fair, therefore, to postulate only those aspects on which the Rorschach test is generally believed by Rorschachers themselves to throw maximum light.

Technique of Validation:

Personality assessments based on Rorschach responses were expressed by the experimenters on the seven aspects of personality enumerated above. In making these assessments each of the relevant factors in the psychogram was considered in relation to the rest. It was the total personality configuration, the gestalt, that was considered as a unique whole. The estimates from various personality indicators were synthesized intuitively, though the indicators themselves were grounded in objective criteria provided by group norms, These estimates were expressed quasi-quantatively on five-point rating scales, A-E. (In case of introversion-extraversion A indicates extreme introvert, E indicates extreme extrovert, and C means ambivert). Personality assessments on these very seven aspects of personality were obtained in case of each subject from three of her teachers on similar five-point rating scales, A-E, and their ratings pooled and averaged. This constituted the external criterion against which the Rorschach estimates were validated by employing contingency coefficient as a measure of agreement between the two sets of ratings.

(8) Klopfer, B., and Kelley, D. M., 'The Rorschach Technique,' New York, World Book Co., 1942, P. 196.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

IV. FIELD WORK

The Sample :

The sample for this study consisted of 25 girls of B. A. classes of the Allahabad University, selected randomly from girl students with Education as their common optional subject. Though fairly random, our sample, it must be pointed out, is not at all representative of female population, not even of girl students. It is a highly select and homogeneous sample, representative of that small population of girls belonging to the upper-middle and top class highly educated families who reach the University stage of education. Another significant feature about our sample, from the psychological point of view, is its age range which spreads from 15 years to 29, with its mode at 18. Most of the girls, it would be noted, have just completed their phase of adolescence and are on the verge of intellectual and emotional maturity. This fact is of considerable psychological importance and must be constantly borne in mind for a proper appreciation of their Rorschach assessments.

Test Administration and Interpretation:

The Rorschach test was administered individually to the twenty-five students who constituted the sample. Rorschach responses were scored and interpreted in the usual way after the manner of Klopfer and Kelley (8), Mons (9) and Beck (10). In the absence of any Indian norms, based on individual test administration, the experimenters were reluctantly obliged to rely on foreign norms and their own experience

(8) op. cit.

(9) Mons, W., 'Principles and Practice of the Rorschach Personality Test.' London, Faber, 2nd edition, 1952.

(10) Beck, S. J., 'Rorschach's Test 1 and 11,' New York: Grune and Stratton, 1944 and 1945.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

with the present sample. This made the task of scoring, interpretation and personality assessment some what subjective, and, at places, extremely difficult, almost impossible.

V. DATA

Teachers' Ratings, abbreviated as T. R., on each of the seven aspects of personality, have been tabulated in Table 1. (See Appendix pp. 188-89, to be read together) These have been averaged* and expressed under the columns headed TAR, abbreviation for Teachers' Averaged Ratings. Rorschach Ratings, abbreviated as RR, for the same seven aspects of personality have also been tabulated in Table 1. Where ratings were not available, their absence has been indicated by a cross (X). For case No. 3 we were fortunate to obtain father's ratings also, he being personally known to the experimenters. To distinguish them from other ratings, they have been underlined.

VI. VALIDITY COEFFICIENTS

Validity coefficients were calculated by correlating TAR's *i. e.*, Teachers' Averaged Ratings, with RR's *i. e.*, Rorschach Ratings on each of the seven aspects of personality,

* The average was found by taking the median of the three ratings. For example, if the three ratings were C, D and C, the median is C. Where only two ratings were available, the lower of the two was accepted as the median. Our preference for the lower value was on the ground that Rorschach Ratings of our subjects generally tended towards the lower end of the rating scales, and, therefore, our convention, we thought, would be conducive to higher validity.

The various steps on our rating scales being not psychologically equidistant, their conversion into scores 5,4,3,2,1 would have been manifestly unwarranted. This also explains why, in this study, the median was considered a better statistic for averaging the ratings than the mean, and contingency coefficient a better statistic for estimating the correlation than the product-moment *r*.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

and then averaged. The results have been summarized in Table II where C indicates contingency coefficient; S. E., its standard error, given by $\frac{1}{\sqrt{N}}$; and S. R., the significance ratio, given by $\frac{C}{S\,E}$. P indicates the level of significance and the remark column expresses the degree of significance in words.

TABLE II

VALIDITY COEFFICIENTS OF RORSCHACH RATINGS ON THE SEVEN ASPECTS OF PERSONALITY.

S. N.	Aspect of Personality.	Validity coefficient. C	SE	S. R.	P	Remark
1.	Intelligence	·583	·2	2·92	less than ·01	Highly significant
2.	Creative or Imaginative capacity	·410	·2	2·05	Between ·05 & ·01	Significant.
3.	Emotional Maturity	·284	·2	1·42	More than ·05	Not-Significant
4.	Emotional Balance	·419	·2	2·09	Between ·05 & ·01	Significant
5.	Self Adjustment	·424	·2	2·12	Between ·05 & ·01	Significant
6.	Social Adjustment	·310	·2	1·55	More than ·05	Not Significant
7.	Introversion-Extraversion	·263	·2	1·31	More than ·05	Not-Significant.
	Average	·385	·2	1·98	Between ·05 & ·01	Significant.

NOTE: The maximum value of C for a 5 x 5 contingency table is ·894.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Psychometrician's View-point:

Looking upon Table II the psychometrician, habituated to measuring the validity of single variable or uni-dimensional tests by the current statistical techniques, would at once rush to average the seven contingency coefficients, and study the statistical significance of the averaged C in terms of its SE and SR. He would have the satisfaction of having determined the validity of the Rorschach test as a whole and expressing it precisely by quoting C = ·385, with S. E. = ·2, and S. R. = 1·98, indicating that it is statistically significant at the 5 per cent level, though not at 1 per cent level. On the strength of these results he would have little hesitation in declaring that the Rorschach test is a valid instrument of personality measurement.

The Clinician's View-point:

Looking upon the same table viz. Table II, the clinician, with his unshakable faith in the total unity of human personality, and accustomed to the longitudinal and synthetic rather than cross-sectional and analytical approach to personality study, is bound to condemn our method for having dismembered the dynamic, living, pulsating personality gestalt into seven separate traits or factors, much though we may protest that they are seven aspects of a single whole. Against the psychometrician's additive averaging of results he would direct his familiar criticism that the mere enumeration of a person's traits and the arithmetical averaging of scores on them does not give us the person himself, since it omits the essential aspect of organised structure. So distrustful will he be of the criterion adopted in this study viz., teachers' ratings, that if Rorschach ratings are not corroborated by them he would throw all the blame upon teachers. Frank (11) is not

(11) Frank, L. K., 'Projective Methods.' Springfield : Charles Thomas, 1948, p. 66.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

unjustified when he says: "While psychologists customarily rely upon the judgment of lay, naive individuals to validate their findings, it is difficult to find any scientific justification for such a procedure".

The Experimenters' View-point:

In this study we have attempted to steer a middle course between the two extremes represented by the pure psychometrician on one hand and the pure clinician on the other. We accept whole-heartedly the clinician's uncompromising stand on the unity, indivisibility and wholeness of human personality, but we believe that, for its scientific study, it is not only necessary but also desirable to analyse that totality. The most important point, it needs to be appreciated, is not analysis, but the method of analysis. The clinician's righteous indignation is legitimately directed against the atomistic analysis which is implicit in the trait approach to personality and is clearly reflected in the single variable technique of validation. But the factor analytical approach, which we have advocated in this study, is essentially wholistic in nature and, therefore, not alien to the clinical approach. It has, however, the added merit of being objective which is the crowning merit of the psychometrical approach. The seven aspects into which personality has been analysed in this study may be looked upon like seven colours into which light is analysed when passed through a prism. In projecting human personality through the Rorschach test we do very much the same. Our interest is as much in the seven colours as in the light of which they are colours. The averaging of seven validity coefficients has its technical value, but to lose sight of the seven constituents is nothing short of 'colour blindness'. They constitute the personality structure, the discovery and analysis of which is the central task which the Rorschach test

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

sets before itself. It is, therefore, but proper that we look into them a little more minutely.

It will be seen from Table II that Rorschach ratings on intelligence have been validated most significantly. It was but to be expected that teachers' ratings should be most valid in regard to intelligence, for it is with this aspect of personality that they come into most intimate contact. Similar results were to be expected on creative or imaginative aspect of personality in which the contribution of functional intelligence must be quite considerable, but this aspect being less manifest and more subtle would, obviously, tend to make the ratings rather less reliable and less valid than on intelligence. On the whole, it would seem fair to conclude that in the cognitive sphere of personality Rorschach ratings are fairly well validated against teachers' ratings.

In the orectic sphere of personality, however, results are not so satisfactory. Rorschach ratings on emotional balance and self adjustment are significantly validated, but they have failed to reach the mark of significant validation in case of emotional maturity, social adjustment and introversion-extraversion. Low validity in the orectic sphere of personality may be due partly to unresolved differences in the connotation of subtle personality concepts, despite the fact that a glossary of psychological terms was distributed amongst raters, and partly to low reliabilities of Teachers' Ratings*. Low validity may also be attributed to low reliabilties of Rorschach

* The reliabitity of teachers' ratings were estimated by calculating an over all correlation between their ratings for each of the seven aspects of personality, regardless of any differences in the raters. They were judged to be significantly reliable on four aspects of personality viz., intelligence, creative or imaginative capacity, emotional maturity and introversion-extraversion. On the remaining three aspects viz., emotional balance, self-adjustment and social-adjustment they were not significant at the 5 per cent level.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ratings arising from lack of objectivity in scoring, interpretation and personality assessment. In the absence of any Indian norms, the experimenters were reluctantly obliged to rely on foreign norms compared with which our sample appeared to give an unduly large proportion of movement responses (m, FM and M), very poor percentage of form responses (Low F %), and an unduly small proportion of chromatic colour responses (C, CF and FC). Under these circumstances, it became an extremely difficult task for the experimenters to assess the subjects on introversion-extraversion, emotional maturity and social adjustment with a high degree of confidence. It is, therefore, not at all surprising that according to Rorschach ratings our sample appears to be more introverted, less emotionally mature and less socially adjusted than might actually be the case. In brief, in the absence of reliable norms, the fairest conclusion would be to hold judgment in suspense rather than attribute low validity to poor assessments either on the part of teachers or on the part of the experimenters.

VII. CONCLUSION

It is to be recognised that the problems involved in the measurement of Rorschach validity are more complex than those encountered with most tests. The usual psychological test deals with one variable or one function, and attempts to provide a means of placing all tested individuals on a continuum with respect to that function. Rorschach test deals with 'n' functions or variables, and attempts to describe the individual in terms of a dynamic pattern of inter-related functions or variables. This multiplicity of variables constitutes the most important difference, and presents the greatest problem of validation.

It is obvious that new statistical techniques are urgently needed to solve the complex and pressing problems of measuring validities of tests of 'n' dimensions. The preliminary

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

efforts of Cronbach (12), Burt (13), Stephenson (14) and Cattell (15) in this direction are highly promising. They seem to make possible the statistical treatment of structural properties of individual personalities. Not only cross-sectional but also genetic-dynamic patterns, they assure us, can be formulated quantitatively. If and when these methods attain workable simplicity and practical efficiency, the task of Rorschach validation in a fairly objective manner would be rendered considerably easy, though it would perhaps never altogether dispense with the need and value of intuition and insight.

Even after the refinement and perfection of methods of statistical treatment of structural patterns, two fundamental problems of Rorschach validation would remain viz., determining and defining operationally the fundamental dimensions of personality structure as projected by the Rorschach test, and finding a really reliable and valid criterion. For the former there seems no better approach than through factor analysis, and for the latter there seems nothing more reliable and valid than a thorough, well-documented, carefully prepared case-history with relevant objective test findings and ratings incorporated therein.

---

(12) Cronbach, L. J.. "Pattern Tabulation" : A Statistical Method for Analysis of Limited Patterns of Scores, with Particular Reference to the Rorschach Test'. Educ. Psychol. Measmt., 1949, 9, 149-171.

(13) Burt, C. L., and Watson, H., 'Factor Analysis of Assessments for a single Person'. Brit. J. Psychol. Statist. Sec. 1951, 4, 179-192.

(14) Stephenson, W., 'Introduction to Q-Technique'. Univ.Chicago Psychol. Dept., 1951.

(15) Cattell, R. B., 'Personality.' New York : McGraw-Hill, 1950.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Given these conditions, the task of Rorschach validation would not appear as formidable and depressing as it would at first sight seem to be. The fulfilment of these conditions, however, is by no means an easy task. In this pilot experiment these conditions, obviously, could not be expected to be fulfilled. It was launched primarily to explore the possibilities of a theoretically sound and practically feasible technique of Rorschach validation, and this task, it seems fair to conclude from the results obtained in this study, it has been able to accomplish rather successfully. For stable results, however, the experiment needs to be repeated with larger and more representative samples, and planned on a more comprehensive basis.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

TABLE

TEACHERS' AND RORSCHACH RATINGS

C. N.	Class B. A. Year	Optional Subject	Age in completed yrs	Intelligence					Creative Capacity					Emotional Maturity				
				TR	TR	TR	TAR	RR	TR	TR	TR	TAR	RR	TR	TR	TR	TAR	RR
1	II	Ed Hin. Music	19	B	C	C	C	C	B	C	D	C	D	C	C	C	C	D
2	I	Ed Phil Pol	18	B	B	A	B	B	B	B	B	B	B	C	C	D	C	C
3	I	Ed Geog Eng.	18	C	B	X	C	C	C	C	X	C	C	C	C	X	C	C
4	I	Ed Hin. Phil	18	B	C	B	B	B	B	C	X	C	B	C	C	C	C	B
5	II	Ed Hist Phil	18	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	X	C	C	C
6	I	Ed Music Phil	18	C	B	B	B	B	C	C	X	C	B	C	C	C	C	D
7	I	Ed Music Geog	19	C	C	X	C	C	C	B	X	C	D	C	C	X	C	C
8	II	Ed Econ Phil	19	C	C	D	C	C	C	C	D	C	C	C	C	C	C	D
9	II	Ed Hindi Geog	19	A	B	X	B	B	A	C	X	B	C	C	C	X	C	C
10	I	Ed Hindi Econ	29	C	D	X	D	D	C	C	X	C	E	C	C	X	C	D
11	I	Ed Hindi Econ	16	B	B	B	B	B	B	B	C	B	B	B	C	X	C	C
12	II	Ed Phil Econ	18	C	D	C	C	C	D	D	C	D	D	C	C	C	C	C
13	II	Ed Phil Hin.	19	C	D	C	C	D	D	D	C	D	D	C	C	C	C	D
14	I	Ed Econ Hin.	18	C	C	D	C	C	D	C	E	D	C	C	X	C	C	C
15	I	Ed Phil Hin.	16	C	C	C	C	C	C	D	C	C	C	C	C	C	C	C
16	II	Ed Pol. Hin.	16	B	B	C	B	C	B	C	C	C	D	C	C	C	C	D
17	II	Ed Econ Phil	18	C	D	D	D	C	D	D	D	D	C	C	C	C	C	C
18	II	Ed Urdu Per	18	C	C	B	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C
19	I	Ed Hin. Music	15	C	C	C	C	C	C	B	B	B	C	B	C	C	C	C
20	I	Ed Hist Sans	21	C	C	D	C	D	C	C	D	C	D	C	C	C	C	C
21	I	Ed Hin. Geog	19	D	C	X	D	C	C	C	X	C	D	C	C	X	C	D
22	I	Ed Hist Hin.	18	C	B	X	C	C	D	C	X	D	C	C	C	X	C	C
23	I	Ed Hist Phil	19	C	B	C	C	B	D	B	C	C	C	C	B	C	C	B
24	I	Ed Econ Hin.	17	C	C	D	C	B	C	C	E	C	B	C	C	C	C	C
25	II	Ed Econ Phil	18	B	C	D	C	C	B	C	D	C	C	D	D	C	D	D

Note: C. N. = Case Number

TR = Teacher's Rating

TAR = Teachers' Averaged Rating (Median of TR's)

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

I

ON SEVEN ASPECTS OF PERSONA LITY

Emotional Balance					Self Adjustment					Social Adjustment					Introversion-Extraversion				
TR	TR	TR	TAR	RR	TR	TR	TR	TAR	RR	TR	TR	TR	TAR	TR	TR	TR	TR	TAR	TR
C	C	C	C	D	C	X	C	C	D	C	B	D	C	C	C	C	C	C	B
B	C	B	B	C	C	C	B	C	C	C	C	B	C	C	C	C	C	C	C
C	C	X	C	D	C	B	X	C	D	B	B	X	B	C	C	C	X	C	B
C	B	B	B	B	C	B	B	B	B	C	B	C	C	B	C	C	D	C	C
C	X	C	C	C	C	B	C	C	C	C	C	C	C	C	A	C	C	C	C
B	C	C	C	D	C	C	B	C	C	C	C	C	C	D	C	C	C	C	B
C	C	X	C	C	C	C	X	C	D	C	B	X	C	C	C	C	X	C	C
B	C	C	C	D	C	C	C	C	D	D	C	D	D	D	C	A	B	B	B
C	C	X	C	C	C	B	X	C	D	C	B	X	C	C	C	C	X	C	B
C	C	X	C	D	C	B	X	C	D	C	B	X	C	D	C	C	X	C	C
C	C	D	C	C	C	B	C	C	D	C	B	C	C	C	C	C	C	C	B
C	C	C	C	D	C	C	C	C	D	C	C	B	C	B	C	C	C	C	C
C	C	B	C	D	C	C	C	C	C	C	D	C	C	D	C	B	C	C	B
C	B	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	X	C	C	B
C	C	C	C	E	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	B	C	C	D
C	C	C	C	C	C	B	C	C	E	C	C	C	C	D	C	C	C	C	C
C	C	C	C	C	C	B	C	C	B	C	C	D	C	C	C	C	B	C	C
C	C	C	C	E	C	B	C	C	D	C	B	C	C	C	C	C	C	C	C
B	C	C	C	C	C	B	D	C	B	C	C	B	C	B	X	C	C	C	D
C	X	C	C	C	C	C	C	C	D	C	B	C	C	C	C	X	C	C	B
C	B	X	C	C	C	C	X	C	C	C	B	X	C	C	C	C	X	C	C
C	C	C	C	C	C	C	X	C	C	C	C	X	C	C	C	X	X	C	C
C	B	C	C	B	C	A	C	C	B	D	C	C	C	B	C	X	C	C	D
C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C	C
C	D	C	C	D	C	D	C	C	C	B	B	C	B	B	C	A	C	C	D

RR = Rorschach Rating

X = No opinion was expressed

— = Father's Ratings

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

HEARING LOSS AND MENTAL DEFICIENCY

S. R. Goswamy

During the early middle ages it was believed that all those who were deaf were also mentally deficient. Even now, in our country there are few people who can realise that handicap of deafness may not affect the intelligence of the person in any way and that they can be as normal as we are provided they are educated and given the right type of enviroment.

The Mosiac Laws gave practically no rights to the deaf as they were considered to be possessed of devils. In those days the people did not know that speech had relationship with hearing. They thought the deaf were uneducable and therefore no effort was made in this direction. It was in the Sixteenth Century that the first attempts were made to educate the deaf. But the conception that they were more or less mentally retarded still prevailed. John Lock in the Seventeeth Century demonstrated in a work on "The Origin and Validity of Knowledge" that the sum total of human understanding is based upon sensory impressions and not upon some inner source of knowledge. Serious deficiencies arise in the world of our experience in the case of imperfect sensory apperception.

Intelligence of the Deaf as Compared with the Hearing.

According to Professor Valentine—"The increase of mental progress with increasing years is attributable to two causes, external and internal." The internal or the innate capacity of the child is the same whether he be deaf or hearing. The physically handicapped are motivated by the same

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

drives and respond to the drives with the same mechanisms used by the physically normal. Some of these mechanisms of adjustments are proper and socially acceptable, others are not. The socially unacceptable mechanisms of adjustment are not a monopoly of those who are physically handicapped. It affects the physically normal as well. The deaf with their handicap of deafness and the consequent loss of speech find it more difficult to adjust to the changing environment than the hearing. The essential difference is not in kind but rather in frequency and in degree of intensity in the use of socially unacceptable mechanisms of adjustment.[1]

The choice of an adjustment mechanism depends upon the senses. At first sight, it may seem that some senses are more superior than the others in the choice of the behaviour pattern of the individual. The older psychologists divided the senses into higher and lower clases. Senses of sight and hearing were placed as the higher senses and that of touch, smell and taste as the lower senses. It cannot be denied that sight and hearing are more important for our mental development than the other senses. But the senses of touch, smell and taste are as important as the higher senses. These senses can compensate in case of a defect in the higher senses. This has been clearly demonstrated in the case of Hellen Keller who is both deaf and blind. Her books "The Story of My life" and "My Religion" show that inspite of her double handicap, she has been as normal in her mental development as the sighted or the hearing.

In the case of a hearing loss, the child who becomes deaf at an early age when his speech has not developed, loses his power of speech also and as a result he is wrongly called

---

1. Pintner—"The Psychology of the Physically Handicapped" Chapter II.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

deaf and dumb. As speech is a means of communication and of acquiring abstract ideas, the deaf cannot mentally develop to the same extent as the hearing if they are left to themselves. If the deaf are given the same environmental situation and the language to express their ideas as well as to understand that of others, there is no reason why they can not mentally develop to the same extent as the hearing.

Inspite of all the other senses being normal and that they can be utilized to compensate for the hearing loss the deaf cannot be treated to be normal to the same extent as the hearing. Pintner in his comprehensive work, "The Psychology of the Physically Handicapped" sums up the results of the intelligence tests of the deaf in following words[2] :—

"As compared with the hearing child he (the deaf) is about 10 points below in I. Q. on non-language and performance tests. These tests seem to be as fair to him as to hearing children. This we must remember refers to the average child. The overlapping of the two groups, deaf and hearing, is very great. There are many bright and very bright deaf children. Many of them have higher intelligence than the average hearing child. Just because a child is deaf does not mean that he is therefore slow and dull. Fifty percent of our deaf children probably have I. Q.'s of 90 and above. There is a large reservoir of fine native ability among the deaf. We must not let the small difference in intelligence between the deaf and the hearing warp our thinking as to the educational possibilities of the deaf. They are possessed of sound intelligence upon which education can build."

2. *Ibid*, Chapter V, Page 128.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Percentage of Mentally Defectives Amongst the Deaf as Compared with the Hearing.

The above study of the intelligence of the deaf shows that on an average the deaf are some what retarded in intelligence than the hearing even though the difference is not much. There is another aspect also which requires careful consideration. The different surveys in America and England show that the percentage of the mentally defectives amongst the deaf is somewhat higher than amongst the hearing.

Sigfrid Dohn[1] has stated that the incidence of mental deficiency amongst the deaf in Denmark is ten times greater than amongst the hearing. From his study in England and Wales into the mental capacity of the deaf Eicholz[2] found that out of 2,035 boys, 1,558 (or 77%) were normal, 389 (or 19%) were mentally backward and 88 (or 4%) mentally defectives. Of 1,809 girls, 1,454 (or 80%) were normal, 286 (or 16%) mentally backward, and 69 (or 4%) mentally defectives.

Periodicals like "The American Annals of the deaf" also show that the number of mentally deficients in schools for the deaf in America are about 4%. If the number of mentally backwards are also taken into account they number about 10% of the deaf population[3].

Deafness Amongst the Mentally Deficients.

On the otherhand surveys in schools for the mentally deficient children in America show that a large number of

1. J. B. MacPhersa—"Mentally Deficients in the United States" American Annals of the Deaf—1952 Vol. 97, Page 379.
2. Alfred Eicholz—"A Study of the Deaf in England and Wales", Page 80.
3. J. B. Mac Phersa—"Mentally Deficients in the U. S. A." Annals of the Deaf—1952 Vol. 97 Page 380,

25

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

them were deaf. Unfortunately, it is difficult to test the hearing loss of the mentally deficient children with a fair degree of accurary. Even in those countries where the problem of the mentally deficients is more and more a subject of constant study by the psychologists, no reliable method of testing their hearing loss has been found. Still, the studies of Birch and Mathews[1] are important. They point out that the median difference for males indicates about 3 times as many mental defectives with hearing loss. The median difference for females indicates approximately ten times as many mental defectives with hearing losses as in general population of females. In a Los Ageles' school for delinquents[2] about 15% pupils were found to have hearing losses. Hearing handicap was frequently the first cause of misunderstanding and maladjustment.

The relationship between deafness and mental deficiency has not yet been clearly defined. It is difficult to give any actual reason as to why there are more mentally deficients amongst the deaf than the hearing. There may be a possible relationship between deafness and mental deficiency because both may have proceeded from the same basic or original cause, such as meningistis or scarlet fever which may have impaired the inner ear or the auditory nerve and at the same time caused damage to the brain resulting in the mental deficiency .

---

1. Jack W. Birch and J. Mathews—"The Hearing of mental Defectives: its Measurement and characteristics."
2. J. B. MacPhersa - "Mentally deficient in the U. S." American Annals of the Dear-1952, Vol. 97 No. 4, Page 352.
3. Best—"Deaf and the Deafness".—Also Pintner "The Psychology of the Physically Handicapped", Chapter V.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Deafness and Educational Backwardness.

While the relationship between hearing loss and mental deficiency is difficult to define, the correlation between hearing loss and educational backwardness is definite, especially in those cases where the hearing loss goes undetected. Every class in every school has atleast one person who is a problem child, a misfit or a day dreamer. The teacher finds himself at a loss with such children. In the older days he would have caned such children or made him stand in a corner. But the modern research has come up with what may be the answer to the problem. They may have a hearing loss.

In the normal school population about 5% of the children have some degree of hearing loss[1]. Most of the school children do not realise that they can hear less than their class mates. They are at a loss to find out why they cannot progress even when they put their best efforts into the work.

The teacher gets bewildered and often attributes the failure to feeble-mindedness. Hearing only in the low frequencies they get only a part of what is being said to them and thus cannot understand all that is being said. The teacher on the otherhand can give a long list of characteristics suggestive of feeble-mindedness whereas the real cause of the trouble is only a hearing loss.

Clinical experience demonstrates that impaired hearing in a child often produces behaviour that is suggestive of feeble-mindedness, whereas when the facts of a hearing loss are known and are clearly interpreted in the terms of language development and psychologic adjustment, the child's

1. Barnadine Baily—" Delinquent—or Merely Deaf"—Hygeia Vol. 26, Pages 184—185, March, 1948.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"mindedness" proves to be quite within the normal range of developmental behaviour—the child with impaired hearing may be linguistically and socially retarded, but this is only pseudofeeble mindedness and may be corrected when the hearing impairment is recognised and compensated for by suitable theraphy and special training.[1]

The facts above show that most of the backward childern in our schools may not be actually so. It may be the lack of auditory acquity which makes them a misfit, a day dreamer or even backward. It is hightime that we realise this handicap, which often goes undetected, and give such children suitable opportunity to advance in their classes.

Unfortunatey, the educationists in our country have not paid much attention to this problem nor have we the means of testing the auditory acquity of all the children of school going age. A scheme was prepared by The School for the Deaf, Lucknow, in 1949-50 to test all the children in the schools in Lucknow to find out the number of children with a hearing loss. But somehow the scheme has not been brought about in effect so far.

---

1. William G. Hardy—"The Relation between Impaired Hearing and Pseudo-feeblemindedness". The Nervous Child Vol. 7, No. 4, October 1948, Page 432.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

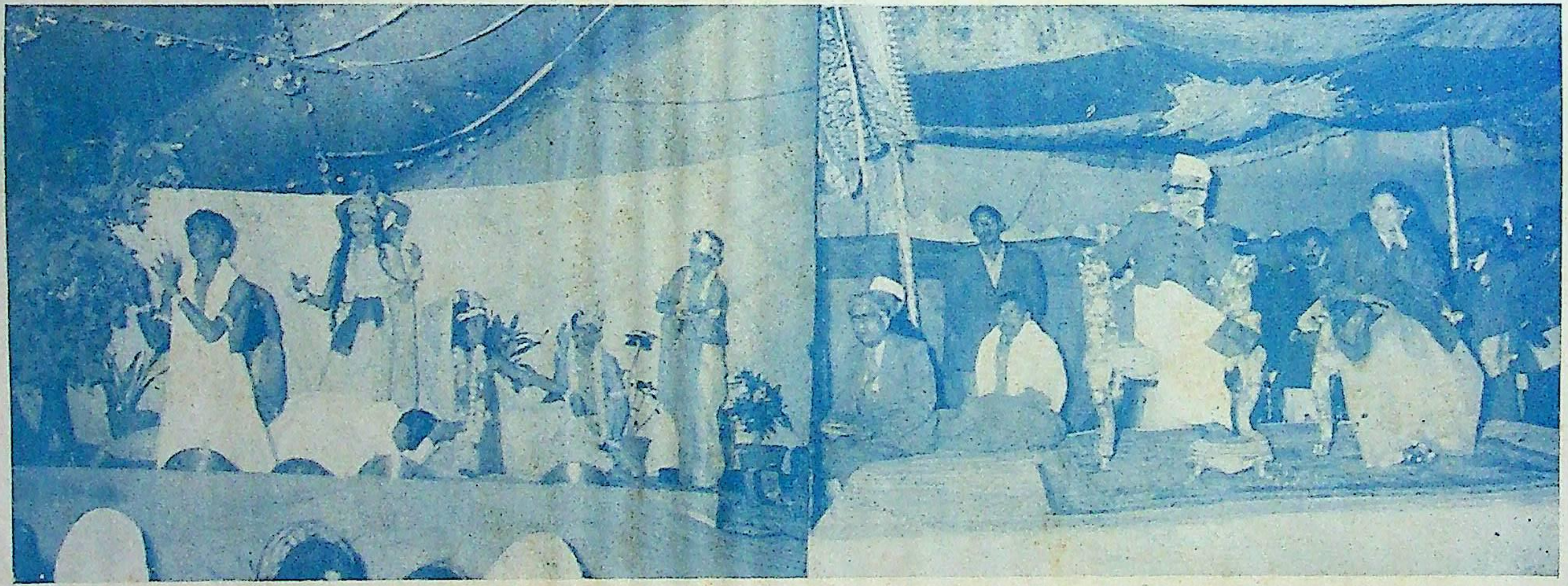

राय बरेली में शिक्षा-सप्ताह के अवसर पर पधारे हुए श्री के० एम० मुंशी, राज्यपाल तथा श्रीमती मुंशी बालकों द्वारा प्रदर्शित मूक अभिनय का अवलोकन कर रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

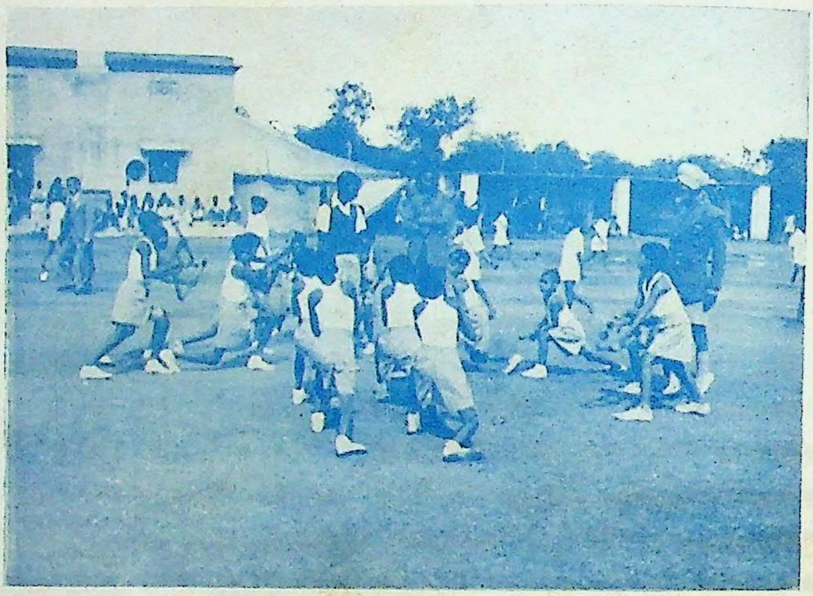

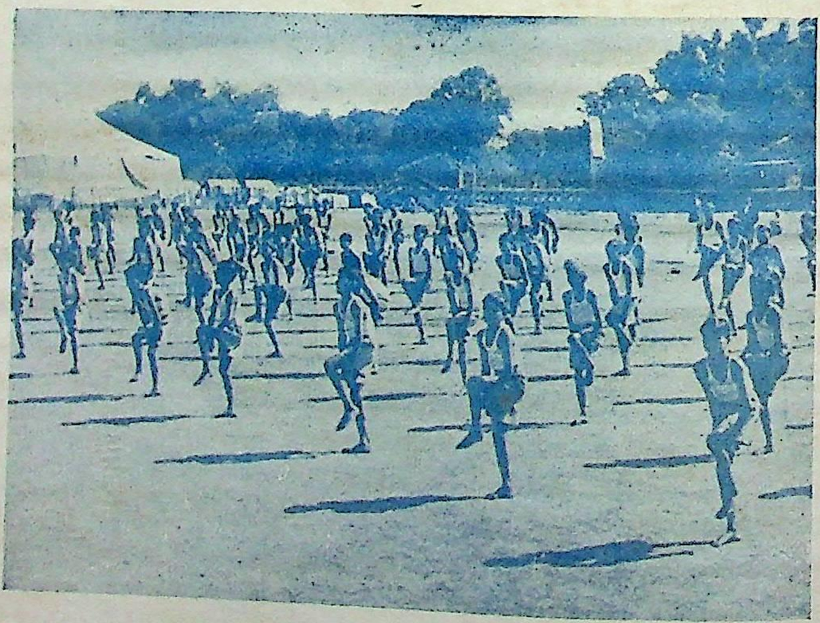

राजकीय उ० मा० विद्यालय रायबरेली के छात्रों द्वारा शिक्षा सप्ताह के अवसर पर व्यायाम-प्रदर्शन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे कार्यकलाप तथा कार्यक्रम

कृषि-केन्द्रित शिक्षा-योजना की प्रगति

नवीन शिक्षा-योजना, जिसके अनुसार प्रारम्भिक एवं पूर्व माध्यमिक शिक्षा को पुनर्व्यवस्थित करने का विचार है, आगामी जुलाई मास से प्रारम्भ हो जायगी। उसके श्रीगणेश की सारी तैयारियाँ हो रही हैं। प्रथम कार्य तदर्थ अध्यापकों के निर्वाचन तथा प्रशिक्षण का था। अत: एक हज़ार ग्रेजुएट तथा दो हज़ार अन्डर ग्रेजुएट, जिनमें अधिकांश कृषि की योग्यता रखते थे, चुने गये हैं और कृषि की विशेषता वाले सभी व्यक्तियों को प्रदेश के वर्तमान ८ जूनियर ट्रेनिंग कालेजों में तथा कृषि से अनभिज्ञ आवेदकों को रुद्रपुर (नैनीताल) में कृषि की शिक्षा ग्रहण करने के लिये १५ मार्च से ही भेज दिया गया है। कुछ व्यक्ति जो प्रशिक्षण-केन्द्रों पर नहीं पहुँचे थे उनकी रिक्तियाँ सूची के अवशिष्ट योग्य व्यक्तियों से भर दी गई हैं। रुद्रपुर में कृषि की तथा अन्य प्रसार-प्रणालियों की शिक्षा दी जायगी। इसी प्रकार जे० टी० सी० कालेजों में प्रसार-कार्य के अतिरिक्त शिक्षा-पद्धतियों एवं शिक्षा सिद्धांतों आदि का प्रशिक्षण होगा।

साथ ही शिक्षा विभाग का दूसरा लक्ष्य प्रत्येक पूर्व-माध्यमिक विद्यालय को ५ से १० एकड़ भूमि प्राप्त कराने का भी रहा है। संतोष की बात है कि कुल के एक तिहाई भाग से अधिक भूमि या तो मिल गई है अथवा उसके दान का वचन प्राप्त हो गया है। एक अन्य प्रयत्न इस दिशा में मुख्य मंत्री के शिक्षा-कोष में धन एकत्र करने का चल रहा है। फतेहपुर, बाराबंकी, बरेली, बदायूँ, मुजफ़्फ़रनगर आदि स्थानों में उत्साहप्रद प्रगति भी हो चुकी है।

मनोविज्ञान केन्द्र

मनोविज्ञान केन्द्र तथा इसके पाँच उपकेन्द्रों ने मनोवैज्ञानिक अनुसंधान तथा निर्देशन का कार्य जारी रक्खा।

परीक्षा, निर्माण, अनुशीलन तथा शोध की निर्देश पुस्तिका

(१) कक्षा ८ के लिए हिन्दी योग्यता परीक्षा, मान अंकों की तालिका तथा अन्य अंकित विवरण तैयार किये गये जो शीघ्र प्रकाशित होने वाले हैं।

(२) स्पेस टेस्ट (बी० पी० एस० टी०) मोरे हाउस के आधार पर तैयार और प्रकाशित किया गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) 'स्टेनफर्ड बिने' वैयक्तिक बुद्धि परीक्षा का हिन्दी अनुशीलन तीन वर्ष के अनुसंधान के पश्चात प्रकाशित किया गया। इस परीक्षा का प्रश्न-विश्लेषण किया जा रहा है।

(४) केन्द्र की १६५२ की प्रौढ़ बुद्धि-परीक्षा के तत्व-रचना का अध्ययन करने के लिए प्रश्नों के पारस्परिक सम्बन्ध मान निकाले गए।

(५) कुछ यांत्रिक योग्यता परीक्षाओं "एन० आई० आई० पी० बुद्धि परीक्षा संख्या ७०|२३" तथा "फार्म रिलेशन्स टेस्ट" के मान निरूपण के लिए और सामग्री एकत्रित की गई।

परामर्श कार्य

शैक्षिक, व्यावसायिक तथा वैयक्तिक परामर्श का कार्य जारी रहा। केन्द्र तथा इसके उपकेन्द्रों में पिछले तीन मास में १३३ प्रार्थनापत्र व्यक्तिगत परामर्श के लिए प्राप्त हुए। ८२ व्यक्तियों को विस्तृत मानसिक परीक्षाएं दी गईं।

पाँच मानसिक रोगियों को मनोवैज्ञानिक सहायता प्रदान होती रही। इसके अतिरिक्त कुछ मानसिक समस्याओं से पीड़ित विद्यार्थियों को आवश्यक मत प्रदान किया गया। केन्द्र तथा उसके ५ उपकेन्द्रों ने उत्तर प्रदेश की कुछ उच्च माध्यमिक शिक्षालयों की ८वीं कक्षा के विद्यार्थियों का सामूहिक रूप से मनोवैज्ञानिक परीक्षण किया जिससे कक्षा ६ में जाने पर उनको उचित विषय निर्वाचन सम्बन्धी परामर्श दिया जा सके।

अध्यापक-निर्देशकों का प्रशिक्षण

६ अध्यापकों को मनोवैज्ञानिक-परामर्श कार्य के लिए मनोविज्ञान केन्द्र पर प्रशिक्षित किया जा रहा है। यह प्रशिक्षण तीन मास के लिए है।

केन्द्र ने प्रदेश के नियोजन विभाग को उसके ब्लाक डेवलपमेन्ट अफसरों के क्रम-निर्धारण कार्य में मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं द्वारा सहायता दी।

अध्ययन-विज्ञान केन्द्र

अन्वेषण के सम्बन्ध में जूनियर-हाई स्कूल के सामान्य विज्ञान के शिक्षकों को जो प्रश्नावली भेजी गई थी उसके उत्तर प्राप्त हो गये हैं। इनके आधार पर एक लेख तैयार हो रहा है, यथा—'जूनियर हाई स्कूलों के सामान्य विज्ञान शिक्षण में पर्यटन के उपयोग का वर्तमान चलन।' इस विषय पर क्रमिक लेख माला भी प्रस्तुत हो रही है। उत्तर प्रदेश के बालकों के लिए इस परिवर्तित परिस्थिति में अंग्रेजी शिक्षा के उद्देश्यों पर अन्वेषण हो रहा है। इस सम्बन्ध में विदेशों से मंगाया हुआ बहुत सा साहित्य पहुँच भी चुका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तथा हिन्दी में शब्द-संकलन (प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए) का कार्य चल रहा है। मैसूर की शिक्षा-सुधार समिति का विवरण केन्द्र में परामर्श के लिए आया था जिस पर विस्तृत सम्मति भेज दी गई है। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रणालय से प्रकाशित A New Deal for Secondary Education शीर्षक पत्रिका का भी गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया गया और परामर्श देते हुये एक विस्तृत लेख भी प्रस्तुत किया जा चुका है। जूनियर हाई स्कूलों के शिक्षा-सुधार की वर्तमान योजना सम्बन्धी 'शिक्षा' के विशेषांक के लिए केन्द्र ने १८ लेख प्रस्तुत किये हैं।

प्रशिक्षण शाखा में श्रमदान और समाज सेवा का कार्य नियमानुसार हुआ। इसके अतिरिक्त इस वर्ष कक्षा-शिक्षण और शिल्पादि के नियमित कार्य के साथ-साथ प्रशिक्षण योजना में निम्न तीन प्रयोग भी किये गये :—

१. अध्यापक के निरीक्षण में पुस्तकालय का प्रयोग,

२. ट्यूटोरियल कार्य का नियमित प्रबन्ध, तथा

३. भारतीय प्राचीन संस्कृति तथा इतिहास सम्बन्धी संग्रहालय की स्थापना और इस विषय पर बीस व्याख्यान।

माध्यमिक शिक्षा परिषद

विगत त्रिमास में परिषद की पाठ्यक्रम तथा परीक्षा सम्बन्धी समितियाँ बैठी थीं और १७ मार्च को परिषद की भी बैठक हुई। इस बीच मान्यता समिति ने ११ नवीन तथा ३५ पहिले की संस्थाओं को मान्यता प्रदान की। तीन व्यक्तियों के रिक्त स्थानों के लिये इसी काल में निर्वाचन भी हुआ। परिषद ने यह भी निश्चय किया कि १९५५ ई० के वर्ष से टेकनिकल कोर्सेज़ को भी अपनी परीक्षाओं में सम्मिलित किया जाय। इसके अतिरिक्त नैपाल राज्य की एस० एल० सी० परीक्षा को अपने यहाँ की हाई स्कूल परीक्षा से समकक्षता प्रदान करने के विषय पर भी परिषद ने विचार किया।

पी० ई० सी० तथा समाज सेवा

इस वर्ष के कुम्भ मेले में पी० ई० सी० के केडटों तथा समाज सेवा के छात्रों ने 'सेवा-सुश्रूषा' का विशेष कार्य किया है। इसके अतिरिक्त बदायूँ से ५ मील दूर काशीपुर गाँव में समाज सेवकों ने सफाई, गंदे पानी के गड्ढे खोदने, सड़क बनाने, खाद तैयार करने आदि के काम किये हैं। इसी प्रकार के काम मथुरा में भी हुए जहाँ एक कच्ची लम्बी सड़क का श्री जगन प्रसाद रावत, उपमंत्री (कृषि) ने भी निरीक्षण किया और उसे पसन्द किया। कानपुर के जी० एन० के० हा० से० स्कूल के समाज सेवकों ने दो बड़े कमरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाने तथा डी० ए० वी० कालेज कानपुर के छात्रों ने एक दो मील लम्बी सड़क बनाने में श्रमदान दिया।

प्रयाग के शिविर को कुम्भ नगर में ही साभिप्राय रक्खा गया था जिसमें दो-दो सौ की संख्या में ६ दलों ने कार्य किया और प्रत्येक दल एक सप्ताह तक (अर्थात् १० जनवरी से २० फरवरी, १९५४ तक) शिविरों में रहा। भीड़ की—फरवरी २,३,४ की—तिथियों में दलों की संख्या ३५० तक कर दी गई थी। सैनिकों ने पूछ-ताछ, प्राथमिक सहायता देने, आग बुझाने, तथा मेले में कुचले व्यक्तियों को ढोने आदि का काम किया। लखनऊ के छात्र सैनिकों तथा समाज सेवकों ने कामनवेल्थ की टीम के आने पर क्रिकेट मैच का प्रबन्ध किया था और गत मास में १० दिनों तक 'शंकर वीकली' की 'बाल-कला प्रदर्शनी' में भी अपने कर्तव्यों का पालन किया।

शिक्षा सप्ताह, रायबरेली

जनवरी १९५४ के अन्तिम सप्ताह में जिला-प्रदर्शन के अवसर पर रायबरेली में एक अनेकांगी आयोजन शिक्षा-विभाग की ओर से हुआ जिसमें खेल-कूद तथा रचनात्मक और सांस्कृतिक कार्यों का एक सप्ताह से अधिक का प्रदर्शन रहा। खेल-कूद के कई विभाग थे, जैसे वयस्क, युवक तथा शिशु और इसी प्रकार के बालिकाओं के लिए भी तीन विभागों की व्यवस्था की गई थी। इन प्रतियोगिताओं की व्यवस्था औलिम्पिक ढंग पर की गई थी। पञ्चायत विभाग के सहयोग से ग्रामीण वयस्कों की एक बड़ी संख्या ने भी इसमें भाग लिया। इस अवसर पर जिला परिषद् के विद्यालयों ने भी अपना शिक्षा-सप्ताह इसी के साथ मनाया और उनकी प्रतियोगितायें भी उचित विभागों के साथ हुईं। इनमें से कुछ ऐसी भी प्रतियोगितायें थीं जो उनके लिये ही सुरक्षित थीं, विशेषकर प्राइमरी स्कूलों के लिए। प्रदेश के शिक्षा संचालक, श्री भैरव नाथ झा, ने भी एक दिन अपरान्ह में बालक और बालिकाओं के सामूहिक कार्य-क्रम के प्रदर्शन देखे। इसके अतिरिक्त राजकीय संस्थाओं के साल भर के रचनात्मक कार्यों से एक-एक पृथक् स्टाल बालक और बालिकाओं का खोला गया था। इन दोनों स्टालों ने प्रदर्शिनी में एक प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया था और इन दोनों की संयुक्त बिक्री १००० रु० से अधिक की हुई।

सांस्कृतिक कार्य में इस जिले में सदा से अच्छी श्रेणी का कार्य होता रहा है और उसी के अनुसार प्रदर्शिनी के संचालकों ने सांस्कृतिक कार्यों का सारा भार शिक्षा विभाग के अधिकारियों को दे दिया था। नित्य संध्या समय कुछ सांस्कृतिक प्रदर्शनों का कार्य-क्रम रहता था जिसमें लोकगीत, लोकनृत्य, संगीतनाट्य, एकांकी नाटक, मूक-अभिनय, छायाभिनय और कलात्मक वृत्तियाँ आदि मुख्य थे। इन्हीं में से कुछ चुने हुये अंश राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुन्शी के समक्ष ३१ जनवरी, १९५४ को प्रस्तुत किये गये जिनमें कल्पना, मीरा के जीवन का एक दृश्य, स्वागत नृत्य, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृषकगीत से श्री मुन्शी इतने प्रभावित हुये कि अपने आशीर्वाद में उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि उन्हें ऐसे अच्छे स्तर के सांस्कृतिक कार्य-क्रम देखने की आशा ऐसे छोटे नगर में न थी।

इसके कुछ ही घंटे पूर्व उन्होंने 'द्विवेदी स्मारक' भवन का उद्घाटन किया था। यह स्मारक विशेष कर जिले की शिक्षा संस्थाओं के प्रयत्नों से इतने थोड़े समय में बन पाया है और इसकी ख्याति इतनी अधिक बढ़ गई है कि राजापुर के अतिरिक्त अन्य कई स्थानों में देव, शंकर तथा भूषण आदि महाकवियों के स्मारक बनाने का एक आन्दोलन सा चल पड़ा है। श्री मुन्शी 'द्विवेदी स्मारक समिति' के परिपालक हैं और इस अवसर पर उन्होंने व्यक्तिगत रूप से १०० रु० की सहायता समिति को दी जिससे जिले की समस्त जनता और विशेष कर शिक्षा संस्थाओं को अपने साहित्यिक प्रयत्नों के लिये बड़ा प्रोत्साहन मिला।

सब से विशेष बात यह थी कि 'अन्तस्कूल अनुशासन संघ' ने शिक्षा के कार्यक्रमों में ही नहीं सारी प्रदर्शिनी में अनुशासन स्थापित करने का भार अपने ऊपर ले लिया था और उन्होंने इस गुरुतर कार्य को लगभग डेढ़ सप्ताह तक कई टोलियों में विभाजित हो कर इतने परिश्रम से किया कि प्रदर्शिनी के अधिकारियों ने अपनी रिपोर्ट में ही नहीं वरन प्रत्येक अवसर पर यह कहा कि ऐसे आदर्श अनुशासन और व्यवस्था का अनुकरण प्रदेश के अन्य जिलों में भी होना चाहिये।

संस्कृत के क्षेत्र में

गत तीन महीनों का इतिहास संस्कृत पाठशालाओं के जीवन में प्रगति का प्रसंग उपस्थित करता है। गत तीन वर्षों से प्रचलित उत्तरप्रदेशीय समस्त संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षण की नवीन योजना ने इस जनवरी मास में अपनी लक्ष्य पूर्ति द्वारा संस्कृत पाठशालाओं की दशा तथा उनकी समस्याओं का वास्तविक रूप प्रकट किया है। संस्कृत परीक्षाओं की मान्यता से उद्बोधित अब संस्कृत का छात्र आशापूर्ण हृदय से संस्कृत पाठशालाओं की ओर अनुरक्त हो रहा है। इस वर्ष छात्र तथा परीक्षार्थी संख्या में संतोषजनक वृद्धि हुई है। गत वर्ष संस्कृत परीक्षाओं में १०,१९२ छात्र सम्मिलित हुये थे, इस वर्ष ११,०६२ छात्र इन परीक्षाओं में सम्मिलित हुए। साथ ही साथ राज्यानुदान में भी गत वर्ष से ३६२८८ रु० की वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त १८६६४ रु० का अनावर्तक अनुदान तथा १३,००० रु० का पुस्तकालय-अनुदान भी दिया गया है। इस राज्याश्रय से पाठशालाओं के अध्यापकों को भी पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

विकास योजनायें

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त जो पुनर्गठन और प्रसार शिक्षा में हुआ है वह बहुत

२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही व्यापक है। अब प्रारम्भिक विद्यालयों की संख्या लगभग दुगुनी, जूनियर हाईस्कूलों की ढाई गुनी, और उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की लगभग साढ़े चार गुनी हो गई है। इसके अतिरिक्त पाँच मनोवैज्ञानिक केन्द्र बालकों की व्यक्तिगत और सामूहिक सेवा कर रहे हैं।

इन सबके अतिरिक्त इस वर्ष से भारत सरकार ने अपनी योजना नं० १ और ४ की स्वीकृति दे दी है। योजना नं० १ के अन्तर्गत केन्द्रीय पेडागागिकल इंस्टीच्यूट को पुस्तकालय के लिए ५,००० रु० का अनुदान दिया गया। इलाहाबाद, लखनऊ और मुजफ्फरनगर के जूनियर प्रशिक्षण विद्यालयों का स्तर और ऊँचा करके उनको जूनियर बेसिक ट्रेनिंग कालेज के रूप में परिणत करने का निश्चय किया गया है और साथ ही वे एक सुसंगठित विकास क्षेत्र का केन्द्र भी बनेंगे। इन तीन क्षेत्रों में प्रत्येक ५ में जूनियर हाई स्कूलों में विकास केन्द्र और पुस्तकालय खोले जायेंगे जहाँ से १५ प्राइमरी स्कूलों का सर्वांगीण विकास किया जायगा। इन २२५ प्राइमरी स्कूलों की इमारत, सज्जा और अच्छे स्तर के अध्यापकों के लिए ३·१५ लाख रुपया स्वीकृत हुआ है। इन्हीं संगठित क्षेत्रों में से प्रत्येक में एक एक जनता कालेज, प्रतापगढ़, सहारनपुर, तथा बाराबङ्की के नार्मल स्कूलों के साथ खुलेगा जहाँ प्रौढ़ ग्रामीणों को विकास, कृषि, कुटीर उद्योग और सामाजिक शिक्षा के संगठन की शिक्षा दी जायगी।

केन्द्रीय सरकार योजना नं० ४ के अन्तर्गत प्रत्येक जिले में एक माध्यमिक विद्यालय को लगभग १०,००० रु० और एक प्राइमरी स्कूल को लगभग २,००० रु० उन्हें विकास केन्द्रों में परिवर्तित करने के लिए दिया गया है। योजना नं० ६ में कुछ ऐसी संस्थाओं को अनुदान देने का विचार हो रहा है जो बहुत ही अच्छे स्तर पर या नवीन शैली से शिक्षा का या सांस्कृतिक कार्य कर रही हैं।

द्वितीय पञ्च वर्षीय योजना (१६५६—६१) की रूपरेखा भी तैयार हो रही है और इसमें प्रसार और संगठन के अतिरिक्त विद्यार्थियों के लिए मंगल योजनायें, साधारण मनोवैज्ञानिक चिकित्सा, अंगहीन और अविकसित बच्चों की शिक्षा और वयस्कों तथा शिशुओं के लिए उचित साहित्य, फिल्म और पुस्तकालयों की प्रस्तुति पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

जूलाई १६, १९५३ से १५, १९५४ तक हुये रचनात्मक कार्यों का विवरण

अन्न	तरकारी	धातु कला	पुस्तक कला	कताई तथा बटाई
१	२	३	४	५
१३२६५ सेर ६ छ,	४६००५ सेर १छि,	सूटकेस १ नेमप्लेट १२	लिफाफा १४६४७६ अदद गुलदस्ता १२०	सूत २००सेर४ छ,
भुट्टा ८२४ अदद	ककड़ी १६ अदद	तश्तरी ४ ढेबरी १२	और ३८७ सेर हार ६८	और
चरी ४० बोझ	मूली ५३३५ अदद	कलमदान ४ अंगेठी १	फाइल १५७६ अदद बेल ७०	१८२७१ गज
	गोभी १८०६ अदद	चम्मच १ हुक २	परीक्षाकीकापी ६२७२१ अदद फूल १४८	सुतली १५६७सेर ७छ,
		कीप १४ ब्लाटर ८	खिलौना १३७० पैड ७६८	बान २४२सेर ८छ,
		बटन ३८ चाक़ू १०	पतंग ३०८ चश्माकेस ७	और
		ऐश ट्रे ४३ थाली २	फिरकी २५६ कार्ड १७५	८०४० गज
		चमटा १६ साबुनदानी ४	एलबम १४५ डायरी २११	रस्सी ३१० सेर
		फूलदान ४ पैमाने २०	ट्रे ८ जिल्दबन्दी६६८	और
		डिब्बे २१३५ बास्केट ७	कलेन्डर २३५ लैम्प शेड ५	१०३७६६ गज
		बोर्ड २	रजिस्टर ६१ कंदील ६६	और
		अन्य वस्तु२१००	नोटबुक ४११ संकेत ४८	६८ अदद
			कवर ४८४ कैशमीमो ४५	तागा ४ सेर
			डिब्बे १५० चित्र ८४	ऊन १८५सेर१२छ,
			पोर्टफोलियो १२ अन्य ६८८१५	

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

बिनाई				मिट्टी		औद्योगिक रसायन			
६				७		८			
कपड़ा	१३५६ गज	नारा	१६ अदद	खिलौना	११५६२ अदद	साबुन	११०३ सेर १२ छ, और	लेमन ड्राप	२ पौन्ड
टाट	६ सेर ६ छ,	चिक	२३२ अदद	फूलदान	२३० अदद		६२६ बत्ती	मोम का खिलौना	८३
और	९८ गज	टोकरी	२४४५ अदद	दिया	४०० अदद	स्याही	६३ सेर १२ छ, और	चूर्ण	३ छ,
नवाड़	८५१ गज और	खाट	३१८ अदद	प्याला	१११ अदद		११५१ पुड़िया और	पटीन	२ सेर
	३१ सेर १३ छ,	कुर्सी	२३६ अदद	गिलास	३७ अदद		४६ दवात और	सलेट पेन्सिल	५४ अदद
दरी	२७ गज और	डलिया	१२ अदद	अन्य	३६४८७ अदद		१२४ बोतल	जेली	२ सेर ८ छ,
	२४ अदद	डोलची	३ अदद	ईंटा	४६६३७ अदद	मंजन	७४ सेर १२ छ, और	चाक	२० सेर
आसन	१७१ अदद	गमछा	२ अदद	दवात	२१५० अदद		८१६ पुड़िया	क्रीम	४ शीशी
पङ्खा	४६८ अदद	मेजपोश	४६ अदद	गमला	११० अदद	फिनायल	४२७ बोतल और	तेल	८६ सेर ३ छ,
बत्ती	१०० गज	कालीन	२४४ गज और				२० सेर ४ छ,		
तौलिया	३६ अदद		१७ अदद			पालिश	१२१ डिब्बी और		
चटाई	१०० गज और	जाल	१ अदद				४ बोतल		
	१६४३ अदद	पिलीवर	२ अदद			अमृतधारा	३० शीशी और		
चादर	१३ अदद	साड़ी	६ अदद				१ औंस		
		अन्य	२१२ अदद			वानिश	२ सेर ८ छ, और		
							२ बोतल		
						पाउडर	२१ पौंड		
						मोमबत्ती	१८२० अदद और		
							४०६ पैकेट		
						वैसलीन	२ पौन्ड और		
							६४ शीशी		

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

काष्ठकला				सिलाई		कढ़ाई बुनाई		चर्म कला		पुताई लिपाई सफाई	
९				१०		११		१२		१३	
पीढ़ा	१३ अदद	फ्रेम	५५	रूमाल	१८६ अदद	स्वेटर	११२ अदद	मनीबेग	२४ अदद	कमरा	८३
खिलौना	१२४	कुर्सी	६४	कवर	१६	रूमाल	२३३ ,,	चश्मादानी	१० ,,	गली	२ फर्लांग
कलमदान	४८	डेस्क	१६६	झोला	६३	गिलाफ	२६ ,,	बटुआ	८८ ,,	साईकिल	२३
ट्रे	६४	डस्टर	१६	फ्राक	६१	मोजा	७८ ,,	कवर	१ ,,	गैलरी	३
नकेल	१६	पाटला	३	आसन	१	पेटीकोट	६३ ,,	चप्पल	३६ जोड़ा	मैदान	२
मेज	२४	अल्मारी	२	टोपी	५	तौलिया	५० ,,	बेग	५ अदद	मकान	१
रैक	७	खूटी	१५५	गुड़िया	६६	साड़ी कीलेस	६ गज	पेटी	२७ ,,	दरवाजा	४२
अटेरन	६२	हैंगर	५४	गिलाफ	१४	झोला	१४ अदद	कंघी दानी	१ ,,	खिड़की	५६
चौकी	६	चट्टी	७० जोड़ा	ब्लाउज	६८	मफलर	१ ,,	अन्य वस्तु	३ ,,	शीशा	९८३
मथानी	१३	स्टूल	३८	पेटी कोट	५२					अन्य	५४८५३४८ वर्ग फीट
थापी	१२	दीपदान	६	कुर्तियां	३०					और	५६६० घन ,,
बोर्ड	५	बुकदान	१	गरारा	१५						
बैट	१८	तिपाई	१०	कमीज	४५						
हैन्डिल	२१	पाये	६०	अन्य	४६०						
मोंगरी	७	खडाऊँ	१								
नाम पट्टी	२५	दीवालगीर	१								
चकला	२	श्यामपट	२								
प्वाइन्टर	१३	खिड़की	१								
चिक की		चारपाई	१३८								
तीलियां	१०००	तकली	१००४								
होल्डर	२६	तख्ती	५२								
बेन्चस्टैन्ड	२५	रूल	२७								
तस्वीर	१३१	अन्यवस्तु	४१५५								

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

वार्निश कार्य		मरम्मत		खोदाई भराई		निर्माण		पाक विज्ञान	
१४		१५		१६		१७		१८	
बक्स	७ अदद	डेस्क	६७	भूमि	२०१८६६० वर्ग फिट	मार्ग	१४ और	पापड़	२०० अदद
कुर्सी	१५१ ,,	कुर्सी	५६३	पिट	७७६ और		११३७०८ वर्ग फिट	चाय	११२५ कप
मेज	४७५ ,,	ठेला	१		३३३६६०५ घन फिट		और	बिस्कुट	१६३७६ अदद
बेंच	४३७ ,,	खिड़की	४	नाला	२२०० गज		११३६० फिट	मिठाई	१४४५ सेर
श्यामपट	८१ ,,	स्टैन्ड	२	भीटा	१२००० वर्ग फिट	खाई	६५१ घन फिट	रेवड़ी	१५ सेर
		अलमारी	१			खम्भा	७	समोसा	५० अदद
दरवाजे	६००/१८६१७ वर्ग फिट	दरवाजा	८			दीवाल	४ और	हलवा	६ सेर
		दीवाल और सड़क	६४५८६ वर्ग फीट				४२३ फिट	पकौड़ी	१२६ सेर १२ छं०
खिड़की	२२०/१२०५६० वर्ग फिट						और २३८७१ वर्ग फिट		
						सीढ़ी	३	अन्य वस्तु	२३२ सेर
अलमारी	१२	क्यारी	१४						
डेस्क	६३८	शीशे	५११			चबूतरा	४ और		
दीवाल	६७१५० वर्ग फीट	कमरे	८				५६८ वर्ग फिट		
अन्य वस्तु	४००४	अन्य	८८५				और १०२१४ घन फिट		
						कमरा ४।	२००० ,,		
						स्टेडियम	५०० ,,		
						मेड	५४०० फिट		
						नाला	१२६ और		
							४८०० वर्ग फिट		

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य कार्य		कच्चे माल का कुल दाम	श्रम मूल्य रुपये में	विक्रय द्वारा प्राप्त धन	कितने मूल्य का समान बचा
१९		२०	२१	२२	२३
दोना पत्तल	२२४५९५ अदद	रु० आ० पा०	रु० आ० पा०	रु० आ० पा०	रु० आ० पा०
जनेऊ	६७२ ,,	६६३६२ ८ ०	१६६१४४ ६ ०	६३३३६ २ ३	३२०६१ १० ०
बटन	३६६				
फोटोग्राफी	१३२१ ,,				
ढलाई	५६६२				
	३०० घन फीट				
डिवाइन	१६				
स्त्री करना	५० कपड़ा				
टट्टर	८				
वृक्षारोपण	५३६				
क्यारी	५३				
बागबानी	५०० वर्ग फीट				

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा जगत के समाचार

प्रदेश

शिक्षा पुनर्व्यवस्था सम्मेलन

उत्तर प्रदेश की शिक्षा में कृषि-शिक्षा को व्यापक रूप से समाविष्ट किये जाने के विषय में शिक्षा पत्रिका में १९५३-५४ के प्रारम्भ से ही समाचार दिये जा रहे हैं। परन्तु उस पर विस्तृत रूप से विचार-विनिमय के पश्चात विगत १० जनवरी को जिला परिषद के अध्यक्षों, जिला नियोजन अधिकारियों तथा जिला विद्यालय निरीक्षकों एवं शिक्षा विभागीय अन्य उच्चाधिकारियों का एक सम्मेलन मुख्य मंत्री पंडित गोविन्द बल्लभ पन्त की अध्यक्षता में सचिवालय में हुआ जिसमें महत्वपूर्ण एवं निश्चयात्मक निर्णय लिये गये। मुख्य मन्त्री ने सर्वप्रथम शिक्षा को समाज की वास्तविक परिस्थितियों के मेल में लाने पर बल देते हुये इस विषय पर प्रकाश डाला कि समाज के अनेकांगी कार्य व्यापार में संलग्न जन समूहों से आने वाले बालकों के लिये उनकी पारिवारिक तथा परिस्थिति जन्य आवश्यकताओं के अनुकूल ही शिक्षा का स्वरूप बनना चाहिये। उन्होंने बताया कि प्रदेश की लगभग ८० प्रतिशत जनता के कृषि में रत होने के कारण विद्यालयी शिक्षा में प्रधान रूप से कृषि का समावेश होना अनिवार्य तो है ही इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के दस्तकारी के कामों का होना भी आवश्यक है, जिनका विशेष रूप से नगरों तथा कुछ अन्य स्थानों में, उनकी अपनी विशेषता के कारण, चलन अथवा प्रचार हो। इसके प्रश्चात अनेक अध्यक्षों ने अपने-अपने विचार प्रकट किये और यद्यपि उनमें से एकाध ने भूमि न मिलने और परिषदों में आर्थिक कठिनाइयों के उत्पन्न होने की आशंका प्रकट की, परन्तु 'यह योजना अति उत्तम है, इसको अविलम्ब लागू किया जाय', यह बात एक स्वर से कही गई। जिला विद्यालय निरीक्षक सभी इसके पक्ष में थे। कृषि विभाग के संचालक का भी भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने बताया कि कृषि में, यदि उसे उचित रूप से किया जाय तो, कभी हानि होती ही नहीं और योजना का समर्थन करते हुये उन्होंने अपने विभाग द्वारा प्रत्येक संभव सहायता का आश्वासन दिया। तदोपरान्त उपमन्त्री श्री फूल सिंह ने अन्य उपयोगी बातों के अतिरिक्त यह बताया कि शिक्षा विभाग को इस कार्य में जिला नियोजन अधिकारियों तथा नियोजन विभाग का पूरा सहयोग प्राप्त रहेगा। इसी विषय पर बरेली परिषद के अध्यक्ष द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव भी सर्वसम्मति से पास हुआ और मुख्य मन्त्री ने योजना के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, मथुरा में शिक्षा मंत्री

विद्यालय में भाषण देते हुये

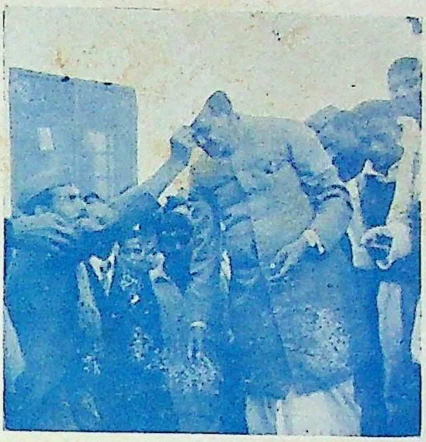

वृक्षारोपण से पहले पूजा का टीका

के० जी० के० कालेज मुरादाबाद के छात्रों द्वारा बनाई गई कच्ची सड़क का उद्घाटन करते हुए शिक्षा मंत्री श्री हरगोविन्द सिंह

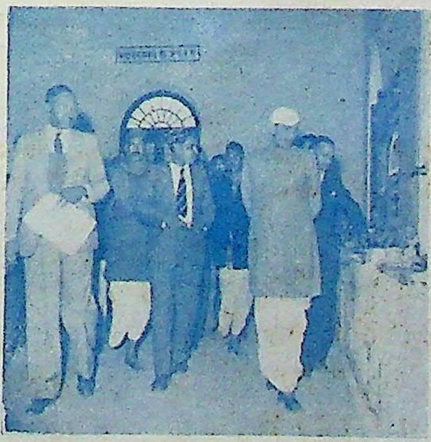

प्रदर्शिनी का निरीक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डी० ए० वी० कालेज, अलीगढ़ में श्रम दान कार्य

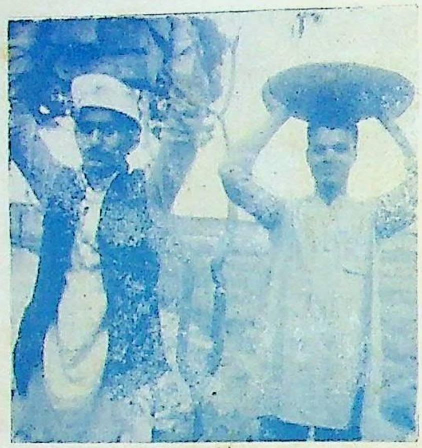

गारा और ईंट ढोते हुए छात्र

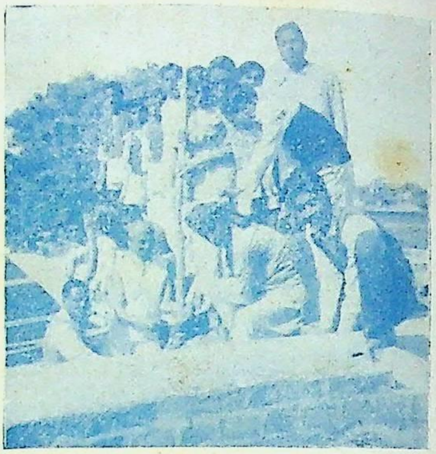

ढूला खोलने का कार्य

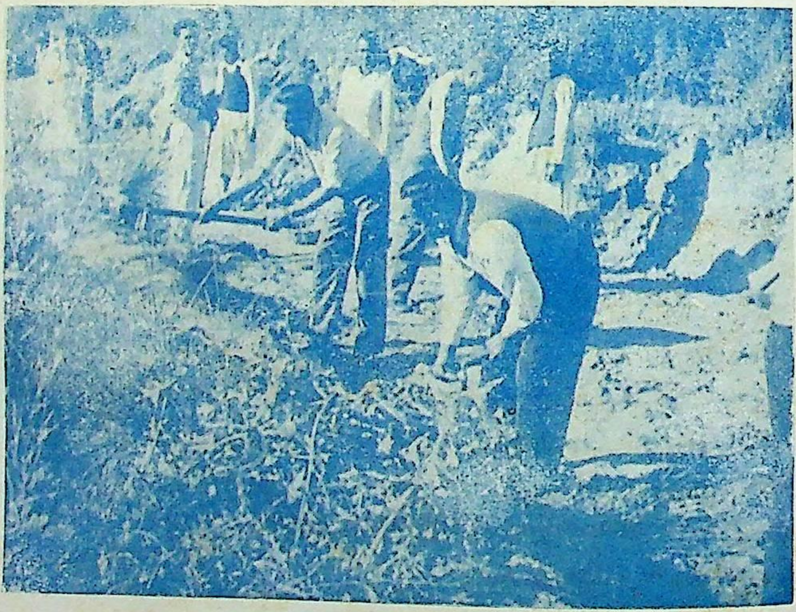

जनवरी, ५४ में श्रमदान के अवसर पर शिक्षा संचालक के शिविर कार्यालय के कर्मचारी कार्य संलग्न

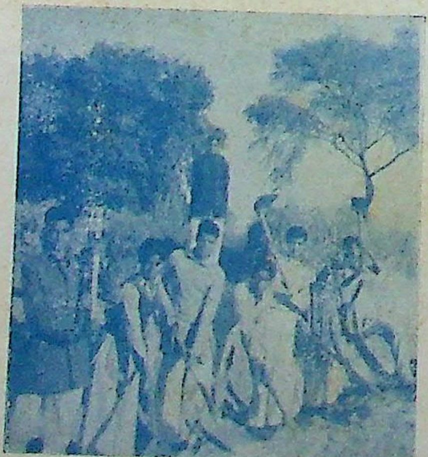

समाज सेवा की टोली

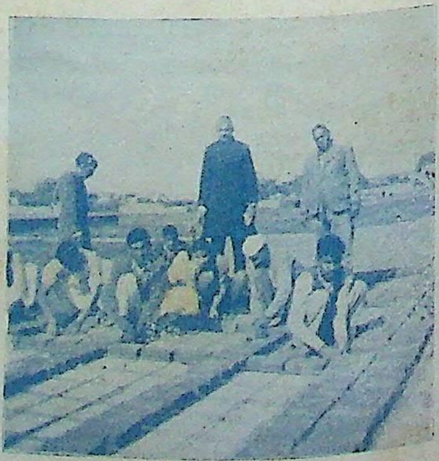

छत बनाते समय ओवरसियर द्वारा निरीक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तृत स्वरूप पर अपने विचार पुनः प्रकट किये जिसमें उन्होंने बताया कि इस कार्य द्वारा जनता और विद्यालयों का सम्पर्क और घनिष्ट हो सकेगा और ग्रामीण क्षेत्र में पाठशाला सम्बन्धी एक एक समितियों तथा जिले के स्तर पर भी एक समिति के निर्माण की आवश्यकता होगी। उन्होंने प्रदेश की ख्यातिप्राप्त भूदानी जनता से भी इस महायज्ञ में भूमि देकर पुण्य-लाभ की अपील की और आशा प्रकट की कि इस उत्पादक क्रिया द्वारा प्रारम्भिक पाठशालायें तथा पूर्व माध्यमिक विद्यालय आर्थिक दृष्टिकोण से किसी अंश तक स्वावलम्बी बन सकेंगे। सम्मेलन ने इस सम्बन्ध में यह भी निश्चय किया कि इस योजना को सफल बनाने के लिये मुख्य मन्त्री के नाम से एक कोष भी खोला जाय।

इसके पश्चात शिक्षा मंत्री श्री हरिगोविन्द सिंह ने मुख्यत: विभाग के अधिकारियों को सम्बोधित करते हुये कहा कि नवीन योजना से आशा की जाती है कि उसके द्वारा वर्तमान शिक्षा-प्रयत्न में नवजीवन का संचार होगा। आज की शिक्षा का दृष्टिकोण उसे सक्रियता प्रधान तथा सप्रयोजन बनाने के पक्ष में है। इसके अतिरिक्त विद्यालय से निकलने वाले विद्यार्थियों की आधुनिक दयनीयता को दूर करने के लिये भी यह आवश्यक है कि वे अपने अध्ययन काल में अपने स्वभाव तथा अपनी परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार किन्हीं कृषि जैसे उत्पादक कार्यों में कम से कम इतनी योग्यता प्राप्त कर लें कि अध्ययन के उपरान्त वे आत्मनिर्भर बन सकें। परन्तु, उन्होंने आगे कहा, किसी भी योजना का सफल होना उसे कार्यान्वित करने वाले कार्यकर्त्ताओं पर अवलम्बित होता है। अतः उन्होंने आशा प्रकट की कि इस दिशा में उनके जिला विद्यालय-निरीक्षक तथा अन्य अधिकारी असुविधाओं की तनिक भी परवाह किये बिना योजना को सफल बनाने के लिये प्राणपण से जुट जायेंगे।

नवीन पाठ्य-क्रम तथा पाठ्य-पुस्तकें

इस वर्ष विभाग द्वारा नियुक्त अनेक विशेष पदाधिकारी कक्षा १ से ५ तक के लिये हिन्दी अंकगणित तथा कृषि और सरल विज्ञान पर पाठ्य पुस्तकें लिख रहे हैं। वर्तमान पुस्तकें विगत लगभग १५ वर्षों से प्रचलित थीं। इसके अतिरिक्त कक्षा ६ के लिये कृषि विज्ञान पर भी पुस्तकें लिखी जा रही हैं, जो अनिवार्य रूप से सम्बन्धित जूनियर हाई स्कूलों में पढ़ायी जायेंगी।

कक्षा १ से ८ तक नया पाठ्यक्रम भी बन रहा है। अतः कक्षा ६ से ८ तक जो पुस्तकें भिन्न-भिन्न विषयों में स्वीकृत हैं वे ही १९५४-१९५५ के शैक्षिक सत्र में भी रहेंगी। केवल कक्षा ६ से वैकल्पिक ग्रामोपयोगी शिक्षा तथा कृषि विषयों की पुस्तकें पाठ्य-क्रम में होने वाले परिवर्तन के कारण हटा दी गई हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत कालेज का दीक्षा समारोह

विगत ७ फरवरी १९५४ को अपरान्ह में राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, काशी का आठवाँ उपाधि वितरण समारोह शिक्षा मन्त्री श्री हर गोविन्द सिंह के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। गृह मन्त्री डा० सम्पूर्णानन्द ने दीक्षांत भाषण देते हुये कहा कि अब लोगों की समझ में यह बात आ गई है कि न केवल वाङ्मय तथा भारतीय दर्शन का अध्ययन करने के लिए प्रत्युत राष्ट्र-भाषा हिन्दी तथा अन्य अनेक प्रदेशीय भाषाओं की उन्नति के लिये भी संस्कृत का न्यूनाधिक ज्ञान आवश्यक है। हिन्दी के राज्य-भाषा हो जाने के कारण यह और भी आवश्यक हो गया है क्योंकि हमको पारिभाषिक शब्द आदि संस्कृत के अक्षय भंडार से ही प्राप्त होंगे। इसके अतिरिक्त आधुनिक नवीन परिस्थितियां में उत्पन्न अथवा निर्मित नवीन शब्दों को संस्कृत का रूप देने के लिए संस्कृत व्याकरण की नितान्त आवश्यकता है। उन्होंने आगे कहा कि संस्कृत में अपार साहित्य अप्रकाशित है और इतिहास पर प्रकाश डालने वाली जो प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है उसका भी उपयोग नहीं हो रहा है। उन्होंने विद्वानों को भी संबोधित करते हुये कहा कि उन्हें प्राचीन शास्त्र एवं आधुनिक विज्ञान में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

शिक्षा मन्त्री ने सभापति पद से भाषण करते हुये कहा कि हमारी संस्कृति का आधार यह पुनीत देवभाषा संस्कृत ही है और इसी दृढ़ बुनियाद के कारण हमारी संस्कृति आज तक लुप्त नहीं हुई वरन सदैव विकसित ही होती रही है। उन्होंने आगे कहा कि हमने संस्कृत की परिधि को धीरे धीरे इतना संकीर्ण कर दिया है कि वह कुछ विशेष लोगों की भाषा बन कर रह गई है। अतः जब हम निकट भविष्य में इस महाविद्यालय को विश्वविद्यालय में परिणत करने जा रहे हैं तब आवश्यक है कि यह महाविद्यालय विस्तृत एवं उदार आधार शिला पर स्थापित हो।

नागरी प्रचारणी सभा की हीरक जयन्ती

नागरी प्रचारणी सभा ने गत ६० वर्षों में जो हिन्दी की सेवा की है वह एक ऐतिहासिक घटना है। इस बीच सभा ने न्यायालयों में नागरी के प्रचार, हस्तलिखित पुस्तकों की खोज, हिन्दी-कोष निर्माण, हिन्दी भाषा के इतिहास की प्रस्तुति तथा प्रकाशन आदि सम्बन्धी अनेक अमूल्य कार्य किये हैं। इस वर्ष सभा की हीरक जयन्ती काशी में अत्यन्त समारोह से मनायी गई है।

जयन्ती महोत्सव का उद्घाटन करते हुये राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि सभी जीती जागती भाषाओं का यह गुण है कि वे अपने शब्द भंडार को बढ़ाने में नहीं हिचकतीं चाहे शब्द किसी भी उद्गम के हों। अतः यदि हम हिन्दी को एक सार्वभौम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा बनाना चाहते हैं तो प्रान्तीय भाषाओं और मुहावरों के लिए द्वार मुक्त रखने होंगे। हिन्दी वास्तव में राष्ट्र-भाषा तभी कहला सकती है जब भारत के सभी निवासी उससे प्रेम करने लगें और उसकी उन्नति में अपना गौरव मानने लगें। यह भावना तब और भी परिपुष्ट हो सकेगी जब वे समझने लगेंगे कि हिन्दी में कुछ उनको भी अपनी देन है और उस पर उनका भी कुछ अधिकार है। डा० अमरनाथ झा ने राष्ट्रपति के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुये कहा कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी के उपासकों का यह प्रथम कर्तव्य होना चाहिए कि अन्य प्रदेशों के रहने वालों के मन में यह आशंका कभी न होने दें कि राष्ट्र-भाषा की उन्नति से उनकी मातृ-भाषा की अवनति होगी।

दूसरे दिन बिहार के राज्यपाल श्री दिवाकर के सभापतित्व में राष्ट्र-भाषा सम्मेलन हुआ जिसमें पास हुये प्रस्तावों में यह कहा गया कि सभा सभी प्रान्तीय भाषाओं की उन्नति, समृद्धि, तथा संरक्षण चाहती है, क्योंकि उसका यह विश्वास है कि इससे राष्ट्र-भाषा की उन्नति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती और एक अन्य प्रस्ताव में संघ शासन से अनुरोध किया गया कि वह केन्द्र में अविलम्ब एक राष्ट्र-भाषा मन्त्रालय स्थापित करे जो राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में विधान की ३९१वीं धारा में उल्लिखित केन्द्रीय शासन के संकल्पों की पूर्ति शीघ्र करा सके। इस अवसर पर आयोजित पत्रकार सम्मेलन के अध्यक्ष पद को सूचना-मंत्री पं० कमलापति त्रिपाठी ने सुशोभित किया था और उन्होंने अपने विस्तृत भाषण में विषय के इतिहास के महत्व, स्वातन्त्र्य संग्राम में पत्रों की देन, वर्तमान स्थिति तथा नवीन दायित्व आदि का विशद निरूपण किया। हिन्दी पत्रों के विकास के लिये आपने हिन्दी संवाद समिति संघटित करने तथा हिन्दी टेलीप्रिंटर के उपयोग की आवश्यकता बताई।

संस्कृति सम्मेलन में आचार्य नरेन्द्र देव ने बोलते हुये कहा कि जो संस्कृति भेद-भाव रखती हो, मनुष्य को मनुष्य रूप में देखना नहीं चाहती हो, उससे आज हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकते।

देश

बिहार

बिहार शासन ने प्रारम्भिक शिक्षा-प्रणाली तथा शिक्षा-संचालन में पिछले दिनों महत्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं। ये परिवर्तन १८८५ के स्वायत्त शासन सम्बन्धी पुरानी धारा में हुये हैं जिसके अनुसार प्रत्येक जिले में अब एक एजूकेशन सुपरिन्टेन्डेन्ट नियुक्त होगा जो जिले के शिक्षा-कोष पर नियन्त्रण रक्खेगा और अध्यापकों में शीघ्र वेतन-वितरण का भी उत्तरदायी होगा। सहायता-प्राप्त विद्यालय उसके अधिकार में होंगे और विशुद्ध परिषदों के विद्यालयों के प्रबन्ध में वह अध्यक्ष की सहायता भी करेगा। इस प्रकार परिषद द्वारा नियन्त्रित विद्यालयों की नियुक्तियाँ, उन्नतियाँ, स्थानान्तरण आदि सब सुपरिन्टेन्डेन्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एजूकेशन की सहायता से अध्यक्ष द्वारा होंगे और सहायता प्राप्त विद्यालयों का प्रबन्ध स्वयं सु०रिन्टेन्डेन्ट एजूकेशन जिला परिषद के अध्यक्ष के परामर्श से करेगा। इन दोनों अधिकारियों के बीच यदि कोई असहमति का अवसर आयेगा तो जिलाधीश की सम्मति को अंतिम निर्णय मान लिया जायगा।

प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार एवं सुधार की दिशा में प्रदेशीय शासन अब विशेष व्यय करने जा रहा है। इस योजना को केन्द्रीय शासन से भी अर्थ-समिति की संस्तुतियों के आधार पर तथा शिक्षित बेकारों को सहायता देने की योजनानुसार आर्थिक सहायता मिल रही है। योजना के फलस्वरूप यह आशा की जाती है कि ६ से ११ वर्ष तक की आयु वाले चार लाख नये छात्र विद्यालयों में प्रवेश पा जायेंगे। इसके अन्तर्गत नये स्कूल खोलने, वर्तमान स्कूलों को बेसिक स्कूल बनाने, छात्रों तथा अध्यापकों की संख्या बढ़ाने, पाठशाला भवन के निर्माणार्थ आर्थिक सहायता देने, अध्यापकों को अल्पकालिक प्रशिक्षण प्रदान करने आदि की व्यवस्था भी रहेगी। अब प्रारम्भिक कक्षाओं में छात्र छात्रायें एक साथ विद्योपार्जन करेंगे और विचार है कि प्रत्येक पाठशाला में कम से कम दो अध्यापिकायें तदर्थ रक्खी जायँ। उत्तरप्रदेश की भाँति वहाँ भी आगामी जुलाई से शिशुकक्षा समाप्त कर कक्षा १ जोड़ दिया जायगा और प्रारम्भिक शिक्षा पाँच वर्ष की कर दी जायगी।

आन्ध्र

आन्ध्र विश्वविद्यालय के सिनेट ने अन्ततः शिक्षा का माध्यम तेलेगू को बनाने का निर्णय किया है। अभी तो भारतीय भाषाओं की शिक्षा के अतिरिक्त अन्य विषयों में अंग्रेजी ही माध्यम रहेगी। किन्तु तुरन्त ही आवश्यक स्तर पर अनेक विषयों की पुस्तकें प्रचलित करने के हेतु एक प्रकाशन विभाग स्थापित करने की योजना है और इसके पश्चात शीघ्र ही सभी विषयों में तेलेगू को अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं के सामान्य शब्दावली के साथ शिक्षा का माध्यम बना दिया जायेगा। यह भी निर्णय हुआ है कि तब इन्टर की कक्षाओं में और दो वर्ष बाद डिग्री कक्षाओं में इस माध्यम का प्रयोग किया जाय। विषय के विवाद में कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जो प्रदेशीय भाषा की अपेक्षा हिन्दी को अधिक महत्व देते थे। परन्तु निर्णय तेलगू के पक्ष ही में हुआ। यह अनुभव किया जा रहा है कि इस माध्यम के लागू किये जाने के पूर्व एक सामान्य वैज्ञानिक शब्दावली की भी आवश्यकता होगी जिसे केन्द्रीय शासन प्रस्तुत कर रहा है।

बंगाल

अपने प्रदेश के अध्यापकों के आर्थिक संकट को देखते हुये बंगाल के शासन ने तीन वर्ष तक के लिए पाँच रुपये प्रति अध्यापक के हिसाब से विभिन्न व्यक्तिगत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यमिक तथा मिडिल स्कूल के अध्यापकों को सहायता देने का निश्चय किया है। यह सहायता उन विद्यालयों को नहीं दी जा सकेगी जिनकी छात्र संख्या ७५० से अधिक है। तथापि ऐसी आर्थिक सहायता पाने वाले अध्यापकों की संख्या भी लगभग ११००० हो जाती है।

प्रदेश के मुख्य मंत्री ने प्रशिक्षित एवं योग्यता सम्पन्न सहायता-प्राप्त विद्यालयों के अध्यापकों की वेतन वृद्धि की भी घोषणा की है। इस प्रकार प्रशिक्षित एम० ए० अथवा बी० ए० आनर्स को ९० रु० के स्थान पर १२५ रु० प्रतिमास तथा साधारण बी० ए० बी० टी० अथवा एम० ए० को ७५ रु० के स्थान पर १०० रु० मासिक वेतन मिलेगा। अन्य प्रशिक्षित एवं योग्यता संपन्न शिक्षकों को भी १० से २० रु० तक की वेतन वृद्धि की जायगी। अनुमान है कि प्रदेशीय शासन को इस पर १५-१६ लाख का अतिरिक्त आवर्तक व्यय करना पड़ेगा।

बम्बई

गत जनवरी, १९५४ मास में बम्बई के प्रदेशीय शासन ने न्यूयार्क विश्वविद्यालय के शारीरिक शिक्षा के प्रोफेसर डा० नैश के मार्ग-प्रदर्शन में कान्दीवली शारीरिक शिक्षा के राजकीय प्रशिक्षण केन्द्र में दो सप्ताह का पुर्नशिक्षण चलाया जिसमें ८० पुरुषों तथा १३ महिलाओं ने, जो शिक्षा विभाग के निरीक्षण एवं अध्यापन शाखाओं से सम्बन्धित थे, मद्य-निषेध विभाग, मजदूर हितकारी विभाग, तथा अन्य शारीरिक शिक्षण संस्थाओं के सदस्यों ने भाग लिया। सभी को कान्दीवली में रहना आवश्यक था जिसमें डा० नैश के व्याख्यान विशेष रोचक एवं लाभप्रद थे।

डा० नैश ने अपने विवरण में प्रदेश के कार्यकर्ताओं की योग्यता की सराहना की है और लिखा है कि वहाँ के कुछ प्रदेशीय केलिकलाप संसार के सर्वोत्तम श्रेणियों में रखे जा सकते हैं क्योंकि उनमें शक्ति, स्फूर्ति, तथा दक्षता के विकास की क्षमता है। डाक्टर साहब ने केन्द्र के सेकेन्डरी एजूकेशन रिपोर्ट का जिक्र करते हुये कहा कि उसकी संस्तुतियों को प्रचलित करना लाभप्रद होगा तथा बम्बई के एजूकेश्नल कालेज आफ फिजिकल एजूकेशन एन्ड रिक्रियेशन के रिपोर्ट पर देश भर में ध्यान दिये जाने तथा चलाये जाने की संस्तुति की। डा० नैश ने अपने विवरण में २३ संस्तुतियाँ दी हैं।

केन्द्र

सेन्ट्रल एडवाइज़री बोर्ड

इस वर्ष सेन्ट्रल एडवाइजरी बोर्ड आफ एजूकेशन का २१वां सम्मेलन दिल्ली में ७ फरवरी को हुआ जिसमें केन्द्रीय शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम अजाद का पढ़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया भाषण विशेष महत्वपूर्ण था। उन्होंने बताया कि प्रारम्भिक शिक्षा में बेसिक प्रणाली को मान लेने के बाद विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक शिक्षा की दो महत्वपूर्ण समस्यायें रह जाती हैं। उन्होंने देश की वर्तमान आवश्यकता को देखते हुये माध्यमिक शिक्षा के पुर्नसंगठन को अत्यावश्यक बताया और इस सम्बन्ध में उन्होंने तीन बातों पर बल दिया। प्रथम, माध्यमिक शिक्षा अधिकांश छात्रों के लिए अपने में एक परिपूर्ण एकाई हो न कि विश्वविद्यालय के हेतु द्वार मात्र। द्वितीय, इसका ढाँचा तथा विषय-वर्ग ऐसा हो जो विभिन्न प्रवृत्तियों तथा समाज के अनेक कार्यकलाप में व्यस्त विभिन्न अंगों की आवश्यकता की पूर्ति कर सके, न कि वह एक ही प्रकार का बंधा हुआ पाठ्यक्रम हो। तृतीय, प्रारम्भिक शिक्षा में कार्यान्वित विषयों की इसमें परिणति होनी चाहिये जिससे छात्र में पूर्णता आये और वह भावी जीवन में अपने नागरिक उत्तरदायित्व का पालन कर सके। उन्होंने परिषद द्वारा इस कार्य को कम से कम समय में सिद्ध किये जाने की आशा प्रकट की।

बोर्ड ने विचार-विमर्श के पश्चात सेकन्डरी एजूकेशन कमीशन की संस्तुतियों को न्यूनाधिक मान लिया और यह प्रस्तावित किया है कि आगामी ७ वर्षों में ही बहु प्रयोजन-विद्यालय बनाने के प्रयत्न किये जायँ जिसमें ज्ञान, विज्ञान, वाणिज्य, उद्योग, कृषि, कला, गृह प्रबन्ध आदि अनेक प्रकार की शिक्षा दी जा सकती हो। बोर्ड ने यह भी निर्देश किया कि ऐसे विद्यालयों को, जो साधारण साहित्यिक शिक्षा के अतिरिक्त कम से कम एक क्रियात्मक वर्ग की शिक्षा न दें, उन्हें मान्यता ही न दी जाय। इसी प्रकार बोर्ड ने विद्यार्थियों के स्कूल के बाहर के क्रियाकलाप के नियन्त्रण तथा पथप्रदर्शन तथा विद्यालय से निकले छात्रों को जीविकोपार्जनार्थ उपयोगी कार्य में लगाने की व्यवस्था के सम्बन्ध में भी अपनी संस्तुतियाँ दीं।

इतिहास-शिक्षण

केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रणालय ने विश्वविद्यालयों के इतिहास के अध्यापकों की विगत मार्च के प्रथम सप्ताह में दो दिन की एक सभा बुलाई, जिसका शिक्षा-सचिव श्री हुमायूँ कबीर ने उद्घाटन करते हुये कहा था कि मनुष्य अपने अतीत की धारणाओं के अनुसार ही वर्तमान के प्रति अपना दृष्टिकोण बनाता है और बहुधा इतिहास को भ्रमपूर्ण ढंग से समझने के कारण त्रुटिपूर्ण आस्थाये स्थिर कर लेता है। अतः क्षेत्रीय एवं देशीय तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय के समुचित भावों का सुन्दर सामंजस्य इतिहास की शिक्षा में मिलना चाहिये।

सभा ने संस्तुति दी कि इतिहास शिक्षण का माध्यम विश्वविद्यालयीय स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं द्वारा होना चाहिये। एक दूसरी संस्तुति यह थी कि प्रारम्भिक कक्षाओं में इतिहास जीवन-चरित्रों द्वारा पढ़ाया जाय, पांचवीं छठी कक्षाओं में संस्कृति पर भी बल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया जाय और सातवीं आठवीं कक्षाओं में राजनीति पर। सभा ने यह भी कहा कि उच्च कक्षाओं में सभी के लिये, जिनका विषय इतिहास न हो, इतिहास का सामान्य ज्ञान दिया जाना चाहिये और इतिहास के विद्यार्थी को भी इसी प्रकार अर्थशास्त्र, सामाजिक-शास्त्र, राजनीति, साहित्य तथा एन्थ्रोपालोजी की शिक्षा दी जानी चाहिये।

इन्जीनियरिंग की ट्रेनिंग

केन्द्र के शिक्षा मंत्रणालय ने देश के उत्तरी तथा दक्षिणी क्षेत्रों में ४० स्थानों पर इन्जीनियरिंग तथा अन्य टेकनालाजिकल शिक्षा-प्रदान की व्यवस्था की है। इस प्रकार चुने गये ग्रेजुएटों को १५० रु० तथा डिप्लोमा प्राप्त छात्रों को ७५ रु० प्रतिमास की दर से दो वर्ष तक के लिए छात्रवृत्ति देने का भी प्रबन्ध है। १९५३ के ग्रेजुएट तथा डिप्लोमा प्राप्त छात्रों को तदर्थ प्रार्थना पत्र भेजने की सुविधा रही है।

विदेश

स्याम

यूनेस्को कार्यालय, पेरिस में अभी हाल ही में स्याम के उब्रोल स्थान में मूल शिक्षा केन्द्र (फन्डामेन्टल ऐजूकेशन सेन्टर) स्थापित करने का निश्चय हुआ है। इसके अनुसार स्थानीय भाषा एवं आर्थिक स्थिति का अध्ययन किया जायगा और देखा जायगा कि देश की आवश्यकताओं एवं समस्याओं का मूल शिक्षा के द्वारा कैसे निराकरण हो सकता है। इसका लक्ष्य आधार-भूत शिक्षा (फन्डामेन्टल एजूकेशन) के विशेषज्ञों एवं कार्यकर्ताओं को तैयार करना तथा पुस्तकों, पोस्टरों, फिल्मों आदि जैसी सहायक सामग्री का बनाना है। १ जनवरी, १९५४ से पाँच वर्ष तक यह योजना चलेगी। यूनेस्को भी चार विशेषज्ञ देगा जिनमें से एक सज्जन तो काम करने भी लगे हैं। देश के शासन द्वारा इस विषय में आवंश्यक इमारतों, यातायात पर व्यय, अध्यापकों तथा अन्य आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध हो रहा है।

ब्रिटेन

दी आउटवर्ड बाउन्ड स्कूल्स (वाह्य क्षेत्रीय विद्यालय) नामक इङ्गलैंड में स्थापित योजना के प्रति अब समस्त संसार के युवक रुचि लेने लगे हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इसमें नवयुवकों को शब्दतः संसार-सागर की यात्रा करनी पड़ती है। अर्थात् उन्हें छात्र जीवन में ही बाहर के क्षेत्रों का अनुभव करना पड़ता है क्योंकि इस योजना का आधार कठिनाइयों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा जोखिमों से यथार्थ सम्पर्क के द्वारा चरित्र निर्माण का है। इसके पाठ्यक्रम के अनुसार युवकों में आत्मसम्मान, आत्मज्ञान, आत्म विश्वास, तथा निस्वार्थ सेवा की शिक्षा दी जाती है जिससे समाज तथा उनका दोनों का ही भविष्य उज्ज्वल हो सके।

इस प्रकार का प्रथम विद्यालय १६४१ में, जब इङ्गलैंड जीवन-मरण के विकट संग्राम में तल्लीन था, स्थापित हुआ था और उसका उद्देश्य यह था कि समुद्री जीवन तथा समुद्री युद्ध से उत्पन्न कठिनाइयों से सामना करने की युवक क्षमता प्राप्त कर सकें। अनेक व्यक्ति जो उन दिनों बम अथवा टारपीडो द्वारा नष्ट किये गये जहाजों से भाग कर जीवन रक्षक तरणियों में शरण लेते थे अपने आवश्यक बौद्धिक, शारीरिक, तथा टेकनिकल ज्ञान न होने के कारण जीवन का जोखिम उठाते थे। अतः उक्त योजना में इस प्रकार छात्रों को साहस एवं दृढ़ निश्चय की शिक्षा अवश्य मिलती थी।

लड़ाई के बाद से यह काम राजकीय विभागों तथा अन्य संस्थाओं में भी फैल गया। प्रथम समुद्र-तटीय विद्यालय वेल्स में एबरडोवी नामक स्थान में खोला गया था और शीघ्र ही इसमें स्थान की कमी के कारण इस संस्था की शाखायें दो अन्य स्थानों में भी खोल दी गईं जिनमें साल भर अनवरत कार्य होता रहता है। इन विद्यालयों की शिक्षावधि २६ दिन की होती है जिसमें १५ से १६ वर्ष तक १०० के लगभग छात्र होते हैं। इनके १२-१२ के दल बनते हैं और इन दलों के नेता और उपनेता चुन लिये जाते हैं। समुद्र और पहाड़ ही वे क्षेत्र हैं जहाँ उन्हें कठिनाइयों, जोखिमों तथा चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। अनुशासन कठोरता पूर्वक लागू किया जाता है और कोई व्यक्ति सिगरेट अथवा सुरापान नहीं कर सकता। यद्यपि स्टाफ में काफी व्यक्ति होते हैं ताकि छात्रों पर व्यक्तिगत ध्यान रक्खा जा सके तथापि छात्रों के अपने न्यायालय भी होते हैं जो छोटे-मोटे दण्ड भी दे सकते हैं। शारीरिक स्वास्थ पर विशेष ध्यान दिया जाता है और अनेक प्रकार के खेल, नाविक के कार्य, तथा पहाड़ के कठिन जीवन का उनसे अभ्यास कराया जाता है।

इस संस्था के अधिकारी अपनी योजना का विस्तार अन्तर्राष्ट्रीय मानते हैं क्योंकि सन १६४८ के बाद से फ्रान्स, जर्मनी के नवयुवक भी इसमें सम्मिलित होने लगे हैं और अब बेलजियम, हालैंड, नार्वे, स्वीडेन, पुर्तगाल तथा एशिया एवं अफ्रीका के भी कुछ व्यक्ति सम्मिलित हो गये हैं। यहाँ अन्तर्जातीय सम्मिलन पर्याप्त मात्रा में सफल प्रतीत होता है और अब बालिकाओं के लिए भी यह सुविधा दी जा रही है जिससे उनमें भी लड़कों के कठिन कार्यों के करने की शक्ति एवं उनके सहनशीलता के गुणों के समान स्वावलम्बन तथा उत्तरदायित्व के पालन की भावना विकसित हो सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

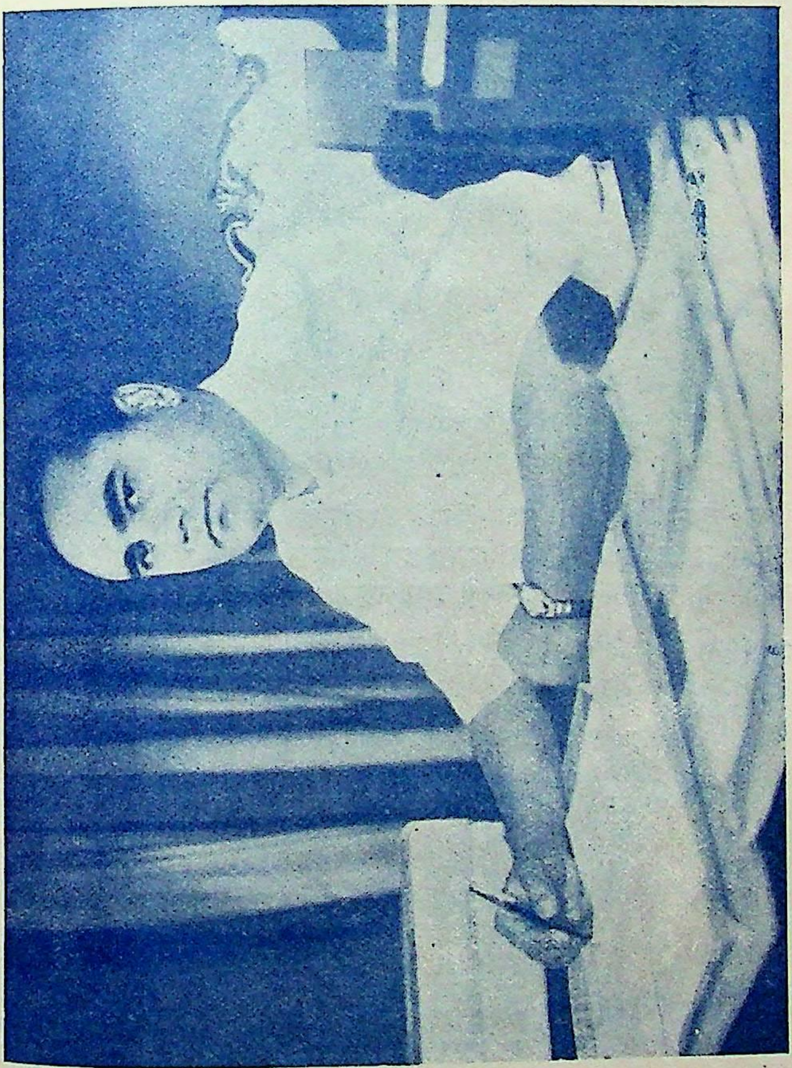

अतिरिक्त शिक्षा संचालक श्री राजा राव सिंह, आई० ए० एस०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

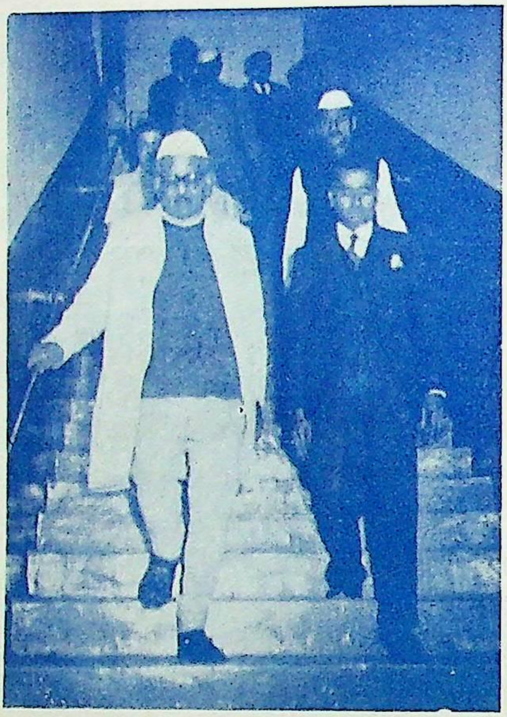

गृह मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द तथा शिक्षा मंत्री श्री हर गोविंद सिंह शिक्षा-विभाग द्वारा निर्मित 'बन्धन विहीन बन्दी गृह' तथा 'देव नागरी लिपि-सुधार सम्मेलन' नामक चलचित्रों का प्रदर्शन देख कर नावेल्टी सिनेमा, लखनऊ की सीढ़ियों से उतर रहे हैं।

उद्योग मंत्री श्री हुकुम सिंह १० मार्च, १६५४ को इटौंजा (लखनऊ) में हुए जिला परिषद के विद्यालयों के वार्षिक समारोह पर प्रदर्शिनी के उद्घाटन के पश्चात् स्थानीय अध्यक्ष तथा उप जिला विद्यालय निरीक्षक के साथ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

शिक्षा-पुनर्व्यवस्था

आज के विद्यालयों से निर्गत नवयुवकों की अपार सेना और उमड़ती शक्तियों से निहित उनके जीवन के आगे का घोर अंधकार देख कर कौन चिन्ताशील व्यक्ति विचलित नहीं हो उठता ? किन्तु शिक्षा की प्रवृत्ति को अवरुद्ध करना उल्टी गंगा बहाने के सदृश ही नहीं वरन् जन साधारण के मौलिक अधिकारों पर कुठाराघात करना भी होगा। अतः शिक्षित युवकों की संलग्नता के मार्ग प्रस्तुत करने तथा उन्हें इस प्रकार दीक्षित करने के अतिरिक्त कि वे विद्योपार्जन के उपरान्त निरीह परमुखापेक्षी न होकर समाज में अपनी वृत्तियों एवं योग्यता के अनुकूल कार्य ढूंढ़ लें और उपाय भी क्या है। स्पष्टतः हमें देखना होगा कि समाज में कौन-कौन से व्यवसाय तथा जीवन-व्यापार प्रचलित हैं और उनमें से अधिकांश में अपने भावी नागरिकों को प्रवृत्त करने के हेतु हम क्या कर सकते हैं।

प्रदेश की अस्सी प्रतिशत से अधिक जनता गाँवों में बसी है और उसका रोज़गार खेती है। अतः ग्रामीण क्षेत्रों के विद्यालय कृषि की नवीनतम प्रणालियों एवं साधनों से वहाँ के बालकों को अवगत करा सकें, यह नितान्त आवश्यक है। इससे देहात के शिक्षित समाज की नगर-प्रयाण की प्रवृत्ति में कमी आवेगी और वहाँ के शिक्षित अब निरीह नौकरी-लोलुप न होकर अपने परिवार अथवा ग्राम के व्यवसाय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं शैलियों से परिचित अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे। परन्तु ये छत्र कुशल कारीगर मात्र होंगे यह बात नहीं है। आधुनिक शिक्षा सिद्धांतों के अनुसार सामूहिक सहयोग पूर्ण कार्य संलग्नता में मनुष्य के सर्वांगीण विकास को अधिक अवकाश मिलता है। क्योंकि, शिक्षा का वास्तविक अर्थ न तो सैद्धान्तिक ज्ञानार्जन है और न गृहोद्योगों की निपुणता-प्राप्ति ही। उससे तो उसके मस्तिष्क, शरीर एवं चरित्र सभी का पूर्ण विकास तथा संस्कार होना चाहिये जिससे वह एक कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति और उपयोगी सामाजिक प्राणी बन सके। अतः यह कहना कि कृषि अथवा अन्य हस्त कार्यों पर बल देने से शिक्षा के उच्चतम उद्देश्यों की सिद्धि में बाधा पड़ेगी उचित नहीं है।

इसके अतिरिक्त नवयुवक अथवा नवयुवतियाँ प्रसंगवश यदि किसी उद्योग में कुशलता प्राप्त करलें तो सम्भवतः आज की परिव्याप्त बेकारी की विकट एवं भयावह समस्या को भी कुछ विश्रान्ति मिले। इसी कारण महात्मा गांधी ने यहाँ तक कहा था कि शिक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बेकारी के विरुद्ध एक प्रकार का बीमा होना चाहिये। वास्तव में विद्यार्थी जीवन के पश्चात छात्र अपरिचित संसार-प्रांगण में प्रवेश के समय यदि ज्ञान के उचित प्रकाश एवं किसी व्यवसाय की आवश्यक दक्षता से संपन्न होकर स्वावलम्बन का अनुभव करें तो यह शिक्षा की एक खरी कसौटी होगी। बस इसी दिशा में प्रदेशीय शासन के ध्यान एवं प्रयत्न इस समय प्रवृत्त हैं।

शिक्षा की पुनर्व्यवस्था के निमित्त प्रथम कार्य अध्यापकों के निर्वाचन एवं प्रशिक्षण का था। तदर्थ लगभग ३००० अध्यापक चुने जाकर इस समय प्रदेश के विभिन्न स्थानों में लगभग २५०० व्यक्ति ट्रेनिंग ले रहे हैं और वे आगामी जुलाई से ही अनेक संस्थाओं में शिक्षा प्रदान करने लगेंगे। साथ ही ५ से १० एकड़ तक भूमि प्राप्त करने का भी प्रयत्न जारी है और लगभग एक तिहाई भूमि प्राप्त भी हो गई है। परन्तु आवश्यकतानुसार सारी भूमि आगामी दो तीन मासों में ही मिल जावे तो न केवल कार्य योजनानुसार चल ही निकले वरन् उसे प्रोत्साहन भी मिले। अभिभावक जनता अपने ही बालकों को समाज के हितार्थ सुविधा देने में पीछे रह जायगी ऐसी सहसा आशंका नहीं होती। एक अन्य प्रयत्न इस सम्बन्ध में उद्भूत 'मुख्य मन्त्री-शिक्षा-कोष' का है जिसमें अनेक जिलों से काफी सहायता मिलने भी लगी है। परन्तु इस बात में शीघ्रता की आवश्यकता है। शिक्षा विभाग ने पहले भी 'आसाम रिलीफ' तथा 'टी० बी० सैनेटोरियम' फंड जैसे कोषों में प्रशंसनीय सहायता प्रदान की है। आशा है 'मुख्य मन्त्री-शिक्षा-कोष' में भी जनता तथा शिक्षा विभाग का पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा और परिणाम स्वरूप लक्ष्य की पूर्ति ही न होगी प्रत्युत लक्ष्य से अधिक धन मिल जायगा।

किन्तु उपर्युक्त उद्देश्यों से ही योजना की इति श्री नहीं हो जाती। पुनर्व्यवस्था तो प्रारम्भिक पाठशालाओं में और उच्च माध्यमिक विद्यालयों में भी करना है जिससे शिक्षा की पूरी सीढ़ी पर इस योजना का प्रभाव पड़े। इसके अतिरिक्त ग्रामीण विद्यालयों के प्रतिकूल नगरों में स्थित विद्यालयों में स्थानीय उद्योगों की शिक्षा भी दी जायगी जिससे वहाँ के विद्यार्थी अध्ययन-काल के उपरान्त अपने पैरों पर खड़े होने योग्य शिल्पकार बन सकें या आगे पढ़ना हो तो बहुमुखी शिक्षा वाले उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में अपनी विशेष-योग्यता में निपुणता प्राप्त कर सकें। पुनर्व्यवस्थित शिक्षा में आवश्यक पुस्तक-ज्ञान तथा पर्याप्त औद्योगिक कार्यों की सुविधा होते हुये भी सामाजिक सेवा सांस्कृतिक शिक्षा, तथा अनेक जनहित के कार्यों की व्यवस्था भी रहेगी। दूसरे शब्दों में नवीन शिक्षा, शिक्षा-क्षेत्र में ही आमूल परिवर्तन नहीं करेगी वरन् वह एक नये समाज का निर्माण भी करेगी क्योंकि तब हमारी पाठशालायें एक साथ ही समाज की नर्सरी होंगी तथा उसके आदर्श का प्रतिबिंब भी जिससे हम मानवता के उच्चादर्शों की नींव पर स्थित अपनी स्वतन्त्रता को दृढ़तर एवं पूर्ण सुरक्षित बना सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त शिक्षा संचालक

इस वर्ष शासन ने उत्तरप्रदेश के शिक्षा विभाग में एक अतिरिक्त शिक्षा संचालक का पद स्वीकृत किया है। इधर पाँच छः वर्षों से विभाग का कार्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था—जहाँ एक ओर विद्यालयों और छात्रों की संख्यायें दुगुनी-तिगुनी होती गई हैं वहाँ फलस्वरूप पत्र-व्यवहार तथा प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य भी बढ़ते गये हैं। ऐसी परिस्थितियों में अतिरिक्त शिक्षा संचालक का आगमन कुछ शीघ्र हो गया हो ऐसी बात नहीं है। इससे निस्सन्देह शिक्षा-संचालक के हाथ परिपुष्ट होंगे और शासकीय यन्त्र में गति का संचार होगा।

श्री राजाराव सिंह, आई० ए० एस०, जो उक्त पद पर पधारे हैं, के विद्यार्थी जीवन तथा शासकीय काल दोनों ही उज्ज्वल रहे हैं। अतः यह आशा किया जाना स्वाभाविक ही है कि शिक्षा विभाग के आज के बृहत्तर एवं विषम कार्यकलाप में ऐसे योग्य व्यक्ति के हाथ बँटाने से तत्परता तथा सुव्यवस्था की मात्रा बढ़ेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वविद्या... पुस्तकालय

SAMPLE STOCK VERIFICATION
1968
VERIFIED BY

9.5,34
38077

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियमावली

उद्देश्य

(१) शिक्षा-विभाग और जनता का सम्बन्ध घनिष्ट करना

(२) शिक्षा-सम्बन्धी नवीन योजनाओं का प्रामाणिक विवरण देना

(४) भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप प्रदेशीय शिक्षा-विधान की सुव्य-स्था में योग देना

(४) अध्यापन-कार्य में संलग्न व्यक्तियों का ज्ञानवर्धन तथा पथ-प्रदर्शन करना

(५) शिक्षा-प्रचार के पुण्य कार्य में जनसाधारण का सहयोग प्राप्त करना

प्रकाशन

त्रैमासिक—वर्ष में चार अंक—जुलाई, अक्टूबर, जनवरी, अप्रैल

मूल्य

वार्षिक मूल्य—सात रुपया (डाक-व्यय सहित), विदेश—दस रुपया

प्रति अंक - दो रुपया (डाक-व्यय सहित)

विज्ञापन

केवल विशुद्ध शिक्षा-सम्बन्धी विज्ञापन स्वीकार किये जायँगे।

र—पूर्ण पृष्ठ ४० रु० प्रति वार

अर्द्ध पृष्ठ—२५ रुपया प्रति वार

लेख

शिक्षा में प्रकाशनार्थ मौलिक लेख प्रबंध-सम्पादक के नाम भेजना चाहिये।

भारतीय संस्कृति कला तथा शिक्षा-सम्बन्धी गवेषणापूर्ण लेख ही प्रकाशित किये जायँगे।

शिक्षा-सम्बंधी अनुसन्धान तथा प्रयोगों के विवरण विशेषरूपेण स्वीकार किये जायँगे।

सचित्र लेखों के लिए उपयुक्त चित्रों के भेजने का उत्तरदायित्व लेखकों का होगा।

अस्वीकृत लेख डाक-व्यय आने पर ही लौटाये जायँगे।

किसी लेख के स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का पूरा अधिकार सम्पादक मंडल को होगा।

प्रकाशनार्थ प्राप्त लेखों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकेगा!

लेख हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषा में सुस्पष्ट लिखे हुए होने चाहिएँ।

मिलने का पता—प्रबन्ध-सम्पादक, "शिक्षा",

ओल्ड कमिश्नर्स हाउस, लखनऊ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

SHIKSHA

तमसो मा ज्योतिर्गमय

ARCHIVES DATA BASE

Printed by Ram Nath Agarwal at the Art Printers, Allahabad-
Published by the Department of Education, U. P. Luckno

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या 9.5-3.4 आगत संख्या 38077

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar